श्रीः वसुगुप्तीयं
शिवसूत्रम्।
डा. बलजिन्नाथ-पण्डितस्य
संस्कृत-विवृत्या हिन्दी-व्याख्यया च युतम्
ह्रीं
ईश्वर आश्रम ट्रस्ट
ईशबर (निशात), श्रीनगर, कश्मीर

श्रीः

वसुगुप्तीयं

शिवसूत्रम्।

डा. बलजिन्नाथ-पण्डितस्य

संस्कृत-विवृत्या हिन्दी-व्याख्यया च युतम्
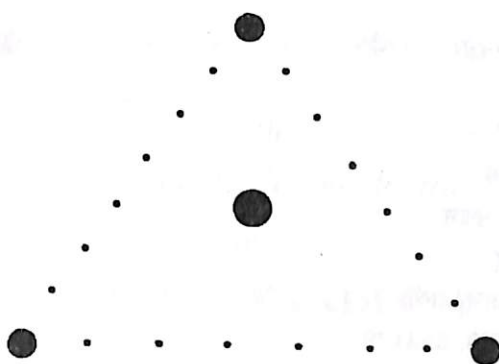
ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

इशबर (निशात), श्रीनगर, कश्मीर

प्रकाशक :-
ईश्वर आश्रम ट्रस्ट
इशबर (निशात), श्रीनगर, काश्मीर

पुस्तक प्राप्ति स्थान :-
प्रशासनिक कार्यालय
(१) ईश्वर आश्रम भवन
२-महेन्द्र नगर
कनाल रोड, जम्मू तवी
दूरभाष-555755, 553179
(२) ईश्वर आश्रम ट्रस्ट
आर - 5, पाकेट - डी
सरिता विहार, नई दिल्ली
दूरभाष - 6958308, 6943307

प्रथम संस्करण : सन् 2002
मूल्य : रु. 35

मुद्रक : मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशंस, दरियागंज, नई दिल्ली - 2

ŚIVA-SŪTRA

of

Vasugupta
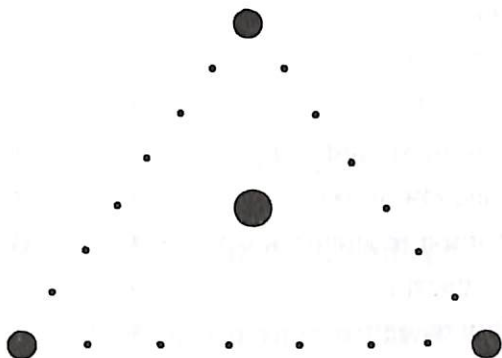
with

Sanskrit and Hindi commentaries

by

Dr. B.N. PANDIT

ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

विषयसूची

समर्पण

अपने पूज्य पिता

वैकुण्ठवासी **श्री आप्ताभराम-पण्डित**

की पुण्य स्मृति में सादर समर्पित।

बलजिन्नाथ पण्डित

ग्रन्थ सङ्केतसूची

सङ्केताः	*ग्रन्थाः*	*ग्रन्थकर्तारः*
ई. प्र. वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	अभिनवगुप्तस्य
ई. प्र. वि. वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी	अभिनवगुप्तस्य
तं. आ.	तन्त्रालोकः	अभिनवगुप्तस्य
म. मं. प.	महार्थमञ्जरीपरिमलः	महेश्वरानन्दस्य
मा. वि. तं	मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्	आगमः
शि. सू. वा.	शिवसूत्रवार्तिकम्	भट्टभास्करस्य
शि. स्तो.	शिवस्तोत्रावलिः	उत्पलदेवस्य
स्पं. नि.	स्पन्दनिर्णयः	क्षेमराजस्य
स्पं. प्र.	स्पन्दप्रदीपिका	उत्पलवैष्णवस्य
स्पं. वि.	स्पन्दविवृतिः	रामकण्ठस्य
स्पं. वृ.	स्पन्दवृत्तिः	भट्टकल्लटस्य
स्पं. सं.	स्पन्दसन्दोहः	क्षेमराजस्य
स्व. तं.	स्वच्छन्दतन्त्रम्	आगमः

प्राक्कथन

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के लिए यह महान् हर्ष का विषय है कि महाशिवरात्रि जैसे पुनीत पर्व पर प्रसिद्ध आगम ग्रन्थ शिवसूत्र का प्रकाशन सरल संस्कृत हिन्दी टीकाओं के साथ, ट्रस्ट के द्वारा किया जा रहा है। कश्मीर शैवदर्शन के धुरन्धर विद्वान् डा. बलजिन्नाथ पण्डित की लिखी हुई ये दोनों टीकायें सुकुमारमति वाले पाठकों के लिए अतीव उपयोगी हैं। त्रिकदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त साधारण शैली में समझाकर आचार्यप्रवर ने इस ग्रन्थ को सर्वजनग्राह्य बनाया है। व्याख्या के आधार पर दृष्टिपात करते हुए यह स्पष्ट हो रहा है कि विद्वद्वर ने आचार्य क्षेमराज की प्रसिद्ध टीका 'शिवसूत्रविमर्शिनी' की ओर अधिक ध्यान न देकर श्री भट्टभास्कर का 'शिवसूत्रवार्तिक' ही उपादेय माना है। क्योंकि उनके अनुसार श्री भट्टभास्कर 'शिवसूत्रवार्तिक' 'शिवसूत्र' के गम्भीर अध्ययन में सहायता कराने के साथ-साथ शिवसूत्र के उन-उन तात्पर्यों को स्पष्ट करता है जो संभवतः आचार्य वसुगुप्त ने अपने शिष्यों को सिखाया और सुनाया था। कश्मीर ग्रन्थावली में इस शिवसूत्रवार्तिक का प्रकाशन हुआ है पर आज तक न तो इसकी विस्तृत व्याख्या और ना ही इस पर कोई गवेषणात्मक कार्य हुआ है। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में आचार्य क्षेमराज ने शिवसूत्र पर 'विमर्शिनी' नामक टीका लिखी पर भट्टभास्कर का 'शिवसूत्रवार्तिक' लगभग उससे भी दो सौ वर्ष पूर्व की रचना मानी जाती है। आठवीं सदी के उत्तरार्ध से नवीं सदी के पूर्वार्ध तक शिवसूत्र के उद्भावक आचार्य वसुगुप्त का समय है। वसुगुप्त के युग के आचार्यों में भट्टकल्लट वसुगुप्त के अपने शिष्यों में थे। रामकण्ठ दूसरे आचार्य थे जो भट्टकल्लट से कनिष्ठ थे। ये भी अवन्तिवर्मा के शासनकाल में भट्टकल्लट की तरह विद्यमान थे। भट्टभास्कर तीसरे आचार्य थे जो रामकण्ठ के युग के साथ-साथ आचार्य अभिनवगुप्त के बाल्यकाल तक चिरजीवी रहे।

यह सर्वजनविदित है कि आचार्य वसुगुप्त भगवान् शिव के परम उपासक थे अतः उनकी कृपा से स्वप्न में साक्षात् दर्शन के पश्चात् उन्हें आदेश मिला कि 'महादेव पर्वत', पर जो श्रीनगर, काश्मीर के उत्तर की ओर 'हारवन' नामक पर्यटनस्थल के समीप ही है, पर एक निम्नमुखवाले विशाल पत्थर पर ''शिवसूत्र'' खुदे पड़े हैं। हाथ के स्पर्शमात्र से वह पत्थर पलट कर खुदे पड़े शिवसूत्रों को प्रत्यक्ष में लायेगा। उनके ऐसा करने के पश्चात् वह शिला फिर से पहिले की तरह भूमि पर बैठ गई। इस तरह से आचार्य वसुगुप्त को 'शिवसूत्र' नामक इस अमूल्य रत्न की प्राप्ति हुई। डा० पण्डित की प्रस्तुत टीका महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आज तक ऐसा प्रयास किसी भी भारतीय विद्वान् ने नहीं किया था। ईश्वर आश्रम ट्रस्ट को आशा है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन से न केवल साधना प्रेमियों

को, या शैवदर्शन के प्रशंसकों को लाभ होगा अपितु बहुत सारे शैवदर्शन के जिज्ञासु छात्र तथा शोध प्रेमी समीक्षक इससे लाभान्वित होंगे।

ट्रस्ट की पत्रिका "मालिनी" में जो सारे विश्व में कश्मीर शैवदर्शन पर प्रकाशित होनेवाली एकमात्र पत्रिका है, ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू महाराज की समीक्षात्मक टीका क्षेमराज की विमर्शिनी के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा में क्रमबद्धरूप से प्रकाशित हो रही है। सम्पूर्ण अनुवाद की समाप्ति पर पुस्तकाकार में उसका प्रकाशन भी शीघ्र ही होगा जिससे प्रकाशन-प्रतीक्ष्य जनता का महान् उपकार होगा। आशा है कि दोनों टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन कर्ताओं को अनुसन्धानात्मक कार्य में भी इससे बहुत लाभ होगा।

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के अधिकारी डा० बलजिन्नाथ पण्डित के आभारी हैं कि उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण आगमग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य ट्रस्ट को सौंपकर साधकों को गौरवान्वित किया। मालिनी पत्रिका के संपादक प्रो० मखनलाल कुकिलू को भी धन्यवाद दिये बिना हमारा कार्य अधूरा ही रहेगा क्योंकि उनकी ही देखरेख में इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका।

अंत में मुद्रक मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशंस, नई दिल्ली के समायोजक भी प्रशंसा के पात्र हैं जिन्होंने बहुत समय से प्रकाशनविषयक बाधाओं के समुपस्थित होने पर भी अन्ततः इस कार्य को सम्पन्न किया।

जय गुरुदेव

महाशिवरात्रि　　　　　　　　　　　　　　　　ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

१२-३-२००२

प्रस्तावना

लिखित परम्परा के अनुसार शिवसूत्र के निर्माता स्वयं उमापतिनाथ शिव ही हैं। आ० वसुगुप्त शिव के एक अनन्य भक्त तथा उपासक थे। शिव के अपार अनुग्रह से ही उन्हें शिवसूत्र की प्राप्ति महादेव पर्वत पर हुई। श्रीनगर के पूर्व में डल नामक झील है। इस झील के पूर्वी तट पर एक ऊंची पर्वत माला खड़ी है। उसका प्राचीन नाम त्रिपुरेशाद्रि है। इसी पर्वत पर सुरेश्वरी क्षेत्र और हर्षेश्वर-शिव के स्थान हैं, जहां कतिपय अनन्य भक्तजन ही जाया करते थे। इस त्रिपुरेशाद्रि की पश्चिमी ढलान को आजकल "ज़बरवन" कहते हैं। उत्तर की ओर हारवन के समीप पहुंच कर त्रिपुरेशाद्रि की पर्वतमाला समाप्त हो जाती है। वहां उसका जोड़ एक उससे भी ऊंची पर्वत शृङ्खला के साथ होता है। वहां ऊंचे-ऊंचे पर्वत शिखरों की सीधी खड़ी ढलानों के बीच में एक तंग घाटी है, जिसमें से एक पर्वतीय झरना बहता है। इसी घाटी के पार जो उपरोक्त ऊंची पर्वत शृङ्खला है, उसमें वहां पर कई एक ऊंचे-ऊंचे शिखर हैं जो स्पष्ट दीखते हैं। श्रीनगर के उत्तरीय भाग में स्थित लाल बाजार के पास पहुंचकर गोतापुर नामक प्राचीन बस्ती से यदि पूर्व दिशा की ओर दृष्टि डालते हुए देखा जाए, तो उस ऊंची पर्वत शृङ्खला के कई एक शिखर दिखाई देते हैं। उनमें से एक शिखर ऐसा है कि उसकी आकृति एक गगनचुम्बी सुविशालकाय शिवलिङ्ग की जैसी दिखाई देती है। यही पर्वत महादेव गिरि कहलाता है, जहां आ० वसुगुप्त को शिवसूत्र प्राप्त हुए थे।

सूत्रों की प्राप्ति के विषय में दो परम्पराएं प्रचलित हुई हैं। एक प्राचीन परम्परा है जिस के साक्षी ऐसे प्राचीन आचार्य हैं जो वसुगुप्त के ही युग के हैं। उनमें पहले आचार्य हैं भट्टकल्लट जो वसुगुप्त के अपने शिष्य हैं। दूसरे आचार्य हैं रामकण्ठ जो भट्टकल्लट के कनिष्ठ समकालीन ग्रन्थकार हैं। ये भी भट्टकल्लट की ही तरह अवन्तिवर्मा के शासन काल में विद्यमान थे। तीसरे आचार्य हैं भट्ट भास्कर जो एक ओर से रामकण्ठ के युग को स्पर्श करते रहे और दूसरी ओर से सम्भवतः आ० अभिनवगुप्त के बाल्यकाल तक जीवित रहे। ये काफी दीर्घजीवी रहे। इन तीनों ग्रन्थकारों के मत में आ० वसुगुप्त को शिवसूत्र की प्राप्ति सिद्धादेश से हुई। सिद्धादेश कई प्रकार से हो सकता है। सिद्धपद उपलक्षणन्याय से देवता का भी बोधक है। तो कोई सिद्धपुरुष या सिद्धदेवता किसी को साक्षात् दर्शन देकर जो स्वयं अपनी वाणी के द्वारा उपदेश करे, वह सिद्धादेश होता है। कभी सिद्धगुरु या देवता की कृपा से स्वप्न में दर्शन देकर उपदेश करता है या कभी उसकी सन्निधि में किसी को स्वयमेव वस्तु का अन्तःस्फुरण हो जाता है। इस प्रकार से जिस ज्ञान की या शास्त्र के जिन शब्दों की प्राप्ति कभी किसी को हुआ करती है, वह सिद्धादेश से हुई मानी जाती है और

उसे वैसा ही कहा जाता है। आ० वसुगुप्त के निकटतम शिष्य भट्टकल्लट थे। उन्होंने कहा है कि वसुगुप्त गुरु को भगवान् उमापतिनाथ शिव ने स्वप्न में दर्शन देकर समुद्र के समान विशाल और गम्भीर शिवसूत्र नामक ग्रन्थ का उपदेश किया और उसमें से उन्होंने स्पन्द तत्त्वरूपी अमृत को खोजकर निकाला।

हब्धं महादेवगिरौ महेश-
स्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद् वसुगुप्तपादैः
श्री कल्लटस्तत् प्रकटीचकार।। (स्पं. वृ. पृ. ४०)

ऐसा कहते हुए उन्होंने यह भी जतलाया है कि वसुगुप्त गुरु के द्वारा खोज कर प्राप्त किए हुए उस स्पन्द सिद्धान्त को भट्ट कल्लट ने ही लोगों के सामने प्रकट किया, अर्थात् स्पन्दकारिका रूपी ग्रन्थ के द्वारा उसे जनता तक पहुंचा दिया। अस्तु, यहां सिद्ध स्वयं आदिसिद्ध भगवान कैलासवासी शिव ही हैं, जिन्हें आगमिक परिभाषा में भगवान् उमापतिनाथ कहा जाता है। उनके द्वारा स्वप्न में किया हुआ उपदेश यहां सिद्धादेश है। आचार्य रामकण्ठ ने इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण न करते हुए स्पन्दकारिका के प्रसङ्ग में इस सिद्धादेश की ओर सङ्केत-मात्र किया है–

गुरोर्वसुगुप्ताभिधानस्य, साक्षात्-सिद्धमुखसंक्रान्त-समस्त-
रहस्योपनिषद्भूत-स्पन्दतत्त्वामृत-निःष्यन्दस्य। (स्पं. वि. पृ. १६५)

तीसरे प्राचीन गुरु भट्टभास्कर ने तो स्पष्ट कहा है कि महादेव गिरि पर वसुगुप्त गुरु को शिवसूत्रों की प्राप्ति सिद्धादेश से हुई।

श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धादेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि।। (शि. सू. वा. पृ. २)

आ० वसुगुप्त का समय आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक का है। भट्ट भास्कर उनकी अविच्छिन्न शिष्यपरम्परा में सातवें गुरु हैं। अतः उन्होंने जो कुछ भी कहा है, चाहे शास्त्र के इतिहास के विषय में, या चाहे शास्त्र के तात्पर्य की व्याख्या के विषय में, वह सारा ज्ञान उन्हें अविच्छिन्न गुरु-उपदेश की परम्परा से प्राप्त है, अतः वह विशेष महत्त्व रखता है।

वसुगुप्त के समय से ढाई तीन सौ वर्षों के बीत जाने पर आ० क्षेमराज ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में शिवसूत्र की व्याख्या करते हुए यह बताया है कि वसुगुप्त गुरु को

स्वप्न में यह आदेश हुआ कि "इस महादेव पर्वत पर एक बड़ी शिला पर शिवसूत्र खुदे हुए हैं। हाथ से धक्का लगाने मात्र से वह शिला खड़ी हो जाएगी और उसके जिस पार्श्व पर शिवसूत्र खुदे हुए हैं, वह पार्श्व आंखों के सामने आ जाएगा।" आ० वसुगुप्त बड़ी-बड़ी शिलाओं को हाथ से धक्का देता गया और उनमें से एक शिला सचमुच उखड़कर खड़ी हो गई और उस पर शिवसूत्र खुदे हुए थे। उन्हें वसुगुप्त गुरु ने उतार लिया और उसके ऐसा कर चुकने पर वह शिला पुनः उसी तरह भूमि पर बैठ गई, जिस तरह से पहले पड़ी थी" यह कहानी सच्चा इतिहास ही है या ढाई तीन सौ वर्षों में की गई भक्तों की कल्पना का फल है, इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। आ० क्षेमराज के द्वारा लिखे गये इस आख्यान के अनुसार अब भी महादेव पर्वत की उपत्यका में स्थित एक स्थान पर एक धराशायी सुविशाल चट्टान को "शेंकर पल" अर्थात् "शङ्करोपल" या शिवजी की चट्टान कहा जाता है। क्या उस चट्टान का यह नाम वसुगुप्त गुरु के समय से ही चला आ रहा है, या क्षेमराज के द्वारा लिखित इतिहास के आधार पर अर्वाचीन पण्डितों ने या वर्तमान शोधविद्वानों ने इस चट्टान को ऐसा नाम दे रखा है, इस विषय में भी निश्चय रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। वर्तमान युग की विशेष शक्तिशालिनी मशीनों से इस चट्टान को पुनः खड़ा करके इसकी परीक्षा की तो जा सकती है, पर करे कौन। geology की दृष्टि से वह शङ्करोदल एक ऐसी शिला नहीं है, जिसे ऊपर उठाया जा सके या नीचे गिराया जा सके। वह तो पर्वत का एक प्रस्तरात्मक निम्नतर और अभिन्न अंग आधारभूत अंग है, कोई पृथक् वस्तु नहीं है। तो यह शङ्करोपल की कहानी कोई सच्ची ऐतिहासिक घटना है या भक्तों की कल्पना है, कुछ कहा नहीं जा सकता। प्राचीन आचार्यों ने शङ्करोपल की बात कही नहीं। क्षेमराज के समय तक कम से कम दो सौ वर्ष बीत गए थे। भारत में ऐसे विषयों पर कहानियों के बनने में देर नहीं लगती है। इतनी बात अवश्य ऐतिहासिक घटना है कि महा देव पर्वत पर वसुगुप्त को स्वप्न में शिव जी ने सूत्रों का ज्ञान करा दिया। अस्तु।

इस तरह से वसुगुप्त को शिवसूत्र नामक शैव शास्त्र की प्राप्ति-मात्र हुई; उन्होंने स्वयं इसका निर्माण नहीं किया। हां, जैसा कि भट्टकल्लट, रामकण्ठ और भट्टभास्कर जैसे प्राचीन आचार्यों ने और उत्पल वैष्णव ने लिखा है, वसुगुप्तगुरु ने इस शिवसूत्ररूपी समुद्र में से स्पन्दसिद्धान्तरूपी अमृत को खोज करके प्राप्त किया और उसका ठीक तरह से संग्रह किया। तदनन्तर भट्टकल्लट को उसका उपदेश किया। आगे भट्ट भास्कर ने शिवसूत्र पर एक वार्तिक लिखा, जो इस शास्त्र के परम्परा-प्राप्त रहस्यों का ज़रा स्पष्टीकरण करता है। भट्ट भास्कर के कथन के अनुसार शिवसूत्र नामक ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त था। उनमें से भट्ट कल्लट ने तीन खण्डों के तात्पर्य का प्रकाशन अपने स्पन्दसूत्रों के द्वारा, अर्थात् स्पन्दकारिका के श्लोकों के द्वारा किया, और चतुर्थ खण्ड के तात्पर्य की व्याख्या 'तत्त्वार्थचिन्तामणि' नामक

टीका के द्वारा की। इस समय शिवसूत्र के तीन ही खण्ड उपलब्ध हो रहे हैं। भट्ट भास्कर की और क्षेमराज की व्याख्याएं तीन ही खण्डों पर मिल रही हैं। न तो वह चौथा खण्ड ही कहीं मिल रहा है और नही उस पर लिखी गई 'तत्त्वार्थाचिन्तामणि' नामक टीका ही। उस टीका का नामोल्लेख आ० अभिनवगुप्त ने भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर लिखी गई विवृति-विमर्शिनी में किया है और साथ यह भी कहा है कि भट्ट कल्लट ने शिवसूत्र पर "मधुवाहिनी" और "तत्त्वार्थचिन्तामणि" नाम की दो टीकाओं का निर्माण किया (ई.प्र.वि. वि.खं. II पृ०)

तदुक्तमिति - शिवसूत्रवृत्त्योर्मधुवाहिनी तत्त्वार्थ चिन्तामण्योर्भट्टश्रीकल्लटपादैः।

(ई.प्र.वि.वि. १-३-२) (खं २ - पृ. ३०)

वह मधुवाहिनी भी आजकल कहीं मिल नहीं रही है। तत्त्वार्थ-चिन्तामणि के उद्धरण क्षेमराज, उत्पल वैष्णव आदि आचार्यों के ग्रन्थों में कहीं-कहीं मिल रहे हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की विवृति-विमर्शिनी टीका में आ० अभिनवगुप्त ने शिवसूत्र के एक ऐसे सूत्र को उद्धृत किया है जो तीन खण्डों में कहीं भी नहीं मिलता नहीं। अतः वह सूत्र उस चौथे खण्ड में से लिया गया होगा, जिस के विषय में जानकारी भट्टभास्कर ने दी है। विवृति विमर्शिनी में भी कहा है-

यत् किल शिवसूत्रम्–

"ब्रह्मपदे कमलशरीरस्तदुत्थप्राणिरूपेण सर्वत्र सर्वदा विचरति" इत्यादि।

(ई.प्र.वि.वि. खं.२, पृ. ३०१) (I-IV-5)

आ० क्षेमराज ने भी स्पन्दसंदोह के अन्त पर दो शिवसूत्रों को इस तरह से उद्धृत किया है–

अस्ति च शिवसूत्रम्–

"सकृद्विभातोऽयमात्मा पूर्णोऽस्य न क्वाप्यप्रकाश-सम्भवः।" इति

तथा–**"चिद्घनमात्मपूर्णं विश्वम्" इत्यादिना इति।** (स्पं. सं. पृ. २५)

ये दो सूत्र भी शिवसूत्र के तीन उपलब्ध खण्डों में कहीं मिल नहीं रहे हैं। अतः ये तीनों ही शिवसूत्र के उस चतुर्थ खण्ड में से लिए गए होंगे, जिसकी बात भट्ट भास्कर ने अपने वार्तिक में लिखी है और जिस पर भट्टकल्लट ने 'तत्त्वार्थ-चिन्तामणि' नामक टीका लिखी थी। सम्भवतः उस चतुर्थ खण्ड में अधिक गोपनीय रहस्यों का स्पष्टीकरण किया

गया हो और वह भी रहस्यमयी भाषा में किया गया हो, जिससे साधारण पढ़ने पढ़ाने वालों में वह अधिक लोकप्रिय नहीं बन पाया हो और इसी कारण से लुप्त हो गया हो।

आ० वसुगुप्त ने शिवसूत्रों में से जिस स्पन्द सिद्धान्त को खोज करके निकाला और अपने शिष्यों को सिखा दिया, उसका विस्तृत प्रतिपादन भट्ट कल्लट ने स्पन्दकारिका में और स्पन्दवृत्ति में किया। तो स्पन्दकारिका में शिवसूत्र के स्पष्ट प्रतिबिम्ब को खोजकर पाया जा सकता है। नवम शताब्दी के रामकण्ठ ने स्पन्दकारिका पर एक विस्तृत टीका तो लिख दी, परन्तु शिवसूत्र की व्याख्या नहीं की। इस काम को आगे भट्ट भास्कर ने किया। उसने शिवसूत्र के तीन खण्डों पर ३५६ वार्तिकों का निर्माण किया। शिव सूत्रों के गुरु-परम्परा से प्राप्त तात्पर्य की विस्तृत व्याख्या इस वार्तिक ग्रन्थ में ही मिलती है। परन्तु भट्ट भास्कर ने शिवसूत्रों के चतुर्थ खण्ड पर कुछ नहीं लिखा। सम्भवतः वह खण्ड अधिक रहस्यमय था। अतः उसके तात्पर्य का विशेष प्रकाशन करना उचित नहीं समझा गया। यह भट्ट भास्कर अपने आप को भट्टदिवाकर का पुत्र कहता है। भट्टदिवाकर वत्स के द्वारा लिखे 'विवेकांजन' का उल्लेख आ० अभिनवगुप्त ने किया है। उसके एक और ग्रन्थ "कक्ष्यास्तोत्र" के भी उल्लेख मिलते हैं। आ० अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में कहते हैं–

यदाह भट्टदिवाकरवत्सो विवेकाञ्जनेः–

प्रकाशश्चैव भावानाम्.....।

इत्यादि।

.....न शापोक्त्या विलीयते।

इत्यन्तम् (ई.प्र.वि. १-१-१)।

इसी तरह उन्होंने विवृति-विमर्शिनी में भी कहा है–

यदाह भट्टदिवाकरवत्स :-

जाते देहप्रत्ययद्वीपभङ्गे प्राप्तैकत्वे(ध्ये) निर्मले बोधसिन्धौ।
अध्यावर्त्यैवेन्द्रियग्राममन्तर्विश्वात्मा त्वं नित्यमेकोऽवभासि॥ इति कक्ष्यास्तोत्रे

(ई.प्र.वि.वि.–खं. ३. पृ. ३८८)

इधर से आ० रामकण्ठ ने, क्षेमराज ने, उत्पल वैष्णव ने और महेश्वरानन्द ने भी कक्ष्यास्तोत्र का उल्लेख किया है :–

तथा च कक्ष्यास्तोत्रे–

सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विश्वक्।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूतस्तिष्ठन् विश्वाकार एकोऽवभासि॥

(स्पं.नि. पृ. २५ तथा म.मं.प. पृ. ८०)

यदि यह दिवाकर वत्स ही दिवाकरात्मज भट्टभास्कर हो तो यह मानना पड़ेगा कि वह बहुत दीर्घजीवी था। एक ओर से नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान आचार्य रामकण्ठ उससे परिचित थे और दूसरी ओर से आ० अभिनवगुप्त ने अपने गुरुओं में किसी भास्कर का भी नाम गिना है। इस प्रसिद्ध गुरु को छोड़कर और कोई भास्कर नाम का शैव गुरु प्रकाश में अभी तक नहीं आया। या तो वह भास्कर कोई और ही भास्कर होगा, नहीं तो यही दिवाकरपुत्र भास्कर आ० अभिनवगुप्त के बाल्यकाल तक, अर्थात् दसवीं शताब्दी के तीसरे चौथे दशक तक जीवित रहा होगा। अस्तु।

शिवसूत्र के गम्भीर अध्ययन में जिस ग्रन्थ से सबसे अधिक सहायता मिल सकती है और जो ग्रन्थ शिवसूत्र के उन उन तात्पर्यों को जतलाता है, जिन्हें वसुगुप्त आचार्य ने अपने शिष्यों को सुनाया था और सिखाया था, वह ग्रन्थ एकमात्र भट्ट भास्कर का शिवसूत्रवार्तिक ही है। यह वार्तिक काश्मीर ग्रन्थावली से प्रकाशित तो हुआ है, परन्तु इस पर अभी तक किसी ने न तो कोई शोधकार्य ही किया और न ही इसकी कोई विस्तृत व्याख्या ही का निर्माण किया। इस ग्रन्थ पर श्री जय देवसिंह द्वारा निर्मित अंग्रज़ी अनुवाद और व्याख्या युक्त ग्रन्थ जो अभी-अभी प्रकाशित हुआ है, उसके विषय में यह देखना बहुत आवश्यक है कि कहीं उस पर क्षेमराज की विचारधारा छा तो नहीं गई है। शिवसूत्रवार्तिक की टिप्पणी में एक और संक्षिप्त व्याख्या छपी है। उसके निर्माता कौन हैं, कुछ भी पता नहीं लगता।

आगे ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में आ० क्षेमराज ने शिवसूत्र पर एक विमर्शिनी नाम की विस्तृत टीका का निर्माण किया। परन्तु क्षेमराज को एक तो अपने विशिष्ट वैदुष्य को जतलाने का बड़ा शौक था, दूसरे उसे नए-नए अर्थों की कल्पना करने में बड़ी रुचि थी और तीसरे भट्टकल्लट जैसे प्राचीन गुरुओं के प्रति कुछ ईर्ष्या द्वेष का जैसा भाव भी था। ये सभी बातें उसके ग्रन्थों से प्रमाणित होती हैं। सम्भवतः आ० अभिनवगुप्त को भी क्षेमराज की ऐसी प्रवृत्तियां पसन्द नहीं थीं और इसी कारण से उन्होंने अपने शिष्यों का नामोल्लेख करते हुए कहीं भी क्षेमराज का नामोल्लेख नहीं किया। तन्त्रालोक में जिस अपने चचेरे भाई 'क्षेम' का उन्होंने उल्लेख किया है, वह क्षेमगुप्त है, क्षेमराज नहीं। क्षेमराज गुप्त वंश का नहीं था, अपितु उसका सम्बन्ध उस वंश से जोड़ा जा सकता है, जिसमें भट्ट भूतिराज, इन्दुराज, हेलाराज, आदित्यराज, योगराज, पुण्यराज आदि शास्त्रकार प्रकट हुए। उस युग में कश्मीर

में ऐसी प्रथा थी कि एक एक वंश के वंशजों के नाम का उत्तरभाग प्रायः समान हुआ करता था, जैसे जगद्धर, यशोधर, रत्नधर आदि, तथा रामकण्ठ, शङ्करकण्ठ, रत्नकण्ठ, शितिकण्ठ, भास्करकण्ठ आदि। क्षेमराज ने जो शिवसूत्र-विमर्शिनी लिखी, उसमें सूत्र के शब्दों की व्याख्या की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उससे अधिक प्रधानता अन्य अन्य ग्रन्थों के प्रमाण वाक्यों का उपन्यास कर करके अपनी बहुश्रुतता को जतलाने में ही दे दी। उसके शिष्य वरदराज ने आगे जो एक और शिवसूत्र-वार्तिक लिखा, उसी से विमर्शिनी के अभिप्रेत तात्पर्य को समझने में काफी सहायता मिलती है। फिर क्षेमराज ने आ० अभिनवगुप्त के मालिनीविजय-वार्तिक का या परात्रीशिका-विवरण का स्पष्टीकरण करने में कोई दिलचस्पी नहीं ली, ज्रो उसे लेनी चाहिए थी, क्योंकि उसे आ० अभिनवगुप्त का शिष्य होने का बड़ा ही गर्व था। उसने तन्त्रसार जैसे लघुकाय ग्रन्थ की भी व्याख्या नहीं की। तन्त्रालोक की विस्तृत व्याख्या लिखने का काम आगे बारहवीं शताब्दी में जयरथ ने किया। आ० अभिनवगुप्त के द्वारा उद्धृत देशभाषामयी पंक्तियों का संस्कृत अनुवाद अभी तक किया ही नहीं गया। ऐसे रिक्त स्थानों की पूर्ति करना क्षेमराज का कर्तव्य बनता था, जो उसने किया नहीं और उसके बदले आगम शास्त्रों और स्तोत्रों की टीकाएं लिखीं। आगमों में भी सर्वाधिक महत्त्व जिस मालिनी नामक आगम का है, उसे छुआ भी नहीं। क्षेमराज की ऐसी प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए वर्तमान विवृति में विशेष आश्रय भट्ट भास्कर के वार्तिक का ही लिया गया। सूत्रों की व्याख्या करते हुए विशेषतया भट्टभास्कर द्वारा प्रतिपादित तात्पर्य को ही स्पष्ट किया गया। तदनन्तर क्षेमराज के अभिप्राय पर और तत् पश्चात् अन्य अन्य सम्भव तात्पर्यों पर भी प्रकाश डाला गया। सूत्रग्रन्थ की अनेकों व्याख्याएं की जा सकती हैं। क्योंकि सूत्रों के बहुत बार अनेक अर्थ होते हैं। सूत्र का लक्षण ही यही है कि जिसमें शब्द बहुत थोड़े हों और उनके द्वारा बहुत अर्थ को या अर्थों को जतलाया गया हो। तो इस विवृति में मुख्य व्याख्या उसी को समझा जाना चाहिए जो भट्टभास्कर के वार्तिक का अनुसरण करती है और जो प्रत्येक सूत्र की व्याख्या करते समय प्रायः सबसे पहले दी गई है। दूसरे दर्जे का महत्व क्षेमराज के विचारों को दिया जाना चाहिए और तीसरे दर्जे पर अन्य व्याख्याओं का स्थान समझा जाना चाहिए।

क्षेमराज ने स्पन्दकारिका को वसुगुप्त की ही कृति ठहराया है। परन्तु रामकण्ठ, भट्टभास्कर और उत्पल वैष्णव इसे भट्टकल्लट की कृति मानते हैं। वस्तुतः भट्टकल्लट की शिष्य परम्परा के साथ क्षेमराज के वर्ग को कुछ विद्वेष था, जिसकी स्फुट अभिव्यञ्जना क्षेमराज की कृतियों में कई स्थानों पर मिलती है। क्षेमराज बहुत बार भट्टकल्लट का उल्लेख ऐसी शब्दरचना के द्वारा करते हैं, जिससे अनादर की स्फुट अभिव्यञ्जना होती है, जबकि आ० अभिनवगुप्त भट्टकल्लट का नामोल्लेख अनेकों ही बार अतीव सम्मान पूर्वक करते रहे।

स्पन्दकारिका की कारिकाओं की संख्या उपसंहार पद्य को मिलाकर केवल बावन है। भट्टकल्लट की वृत्ति में बावन ही कारिकाएं हैं और रामकण्ठ की टीका में भी बावन ही हैं। परन्तु क्षेमराज की टीका में एक कारिका अधिक है, जिसे सम्भवतः उस वर्ग के विद्वानों ने स्वयं बनाकर के जोड़ लिया हो। वह कारिका है—

लब्ध्वाप्यलभ्यमेतज्ज्ञानधनं हृद्गुहान्तकृतनिहितेः।
वसुगुप्तवच्छिवाय हि भवति सदा सर्वलोकस्य।। (स्पं.नि.का. ५३)

इस कारिका में थोड़ा सा अस्फुट संकेत ऐसा है कि मानो वसुगुप्त ही स्पन्दकारिका के निर्माता हों। क्षेमराज के वर्ग की इस नीति की प्रतिक्रिया के रूप में भट्टकल्लट के शिष्यवर्ग ने भी एक अतिरिक्त कारिका का निर्माण करके मूलग्रन्थ में जोड़ दिया। वह कारिका उत्पल वैष्णव की स्पन्द प्रदीपिका में है। वह यह है :—

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः।। (स्पं.प्र.का. ५३)

इसमें स्पष्ट कहा गया है कि स्पन्दकारिका के श्लोकों की रचना भट्टकल्लट ने ही की। उत्पलवैष्णव अपने श्लोकों के द्वारा टीका के आरम्भ में स्पष्ट कहता है कि भट्टकल्लट ने लगभग पचास अनुष्टुप पद्यों के द्वारा स्पन्द सिद्धान्त को एकत्र संगृहीत कर लिया।

स्पन्दकारिका के निर्माता कौन हैं, वसुगुप्त या कल्लट, इस बात पर इन सभी आचार्यों में से सबसे अधिक प्रामाण्य रामकण्ठ का माना जाना चाहिए, क्योंकि एक तो वे अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में थे; अतः उनका आ० वसुगुप्त और भट्टकल्लट दोनों ही के साथ परिचय रहा होगा; दूसरे वे परम भक्त और अनन्य उपासक थे। उनकी योगज अनुभूति भी बहुत गहरी थी, ऐसा उनकी स्पन्दविवृति से अभिव्यक्त होता है। उन्होंने वहां कारिकाकार और वृत्तिकार इन दोनों ही नामों का प्रयोग भट्टकल्लट ही के लिए किया है। कश्मीर में इस प्रकार का निर्देश करने की प्रथा थी। आ० अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में आ० उत्पलदेव को ही सूत्रकार, वृत्तिकार और टीकाकार इन तीन नामों से कहते हैं। वैसे ही वे ध्वन्यालोक लोचन में एक ही आनन्दवर्धन का सूत्रकार और वृत्तिकार इन दो संकेतों से उल्लेख करते हैं। स्पन्द विवृति में रामकण्ठ ने एक स्थान पर यह भी कहा है—

इत्येतावत् तात्पर्यं प्रतिपादयितुं स्वयं वृत्तिकृता भट्टकल्लटेन व्याख्यातम्—सङ्कल्पमात्रेण इत्यादि।— (स्पं.वि. ७)

यहां "स्वयं" यह शब्द इस बात को अभिव्यक्त करता है कि जो कारिकाकार है, वही

स्वयं वृत्तिकार भी है। तो भट्टकल्लट ही कारिकाकार है। फिर स्पन्दकारिका की ५२वीं कारिका तो मूलग्रन्थकार की ही कृति है। इस बात को क्षेमराज का वर्ग भी स्वीकार करता है। उस कारिका के द्वारा ग्रन्थकार अपने गुरु की वाणी को प्रणाम करते हैं। तो यहां सोचना चाहिए कि ग्रन्थकार कौन है और उसका गुरु कौन है। ग्रन्थकार और उसका गुरु दो व्यक्ति होने चाहिएं। तभी तो ग्रन्थकार अपने गुरु की वाणी को प्रणाम कर सकता है। इस विषय में रामकण्ठ जैसा लगभग समकालीन गुरु यह कहता है–

निजगुरुसरस्वतीस्तवनद्वारेणाह–
अगाध-संशयाम्भोधि-समुत्तरणतारिणीम्।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम्॥ (५२)

.......गुरुभारतीं वन्दे - गुरोर्वसुगुप्ताभिधानस्य ....भारतीं वाचं स्तौमि...... ।(स्पं.नि.पृ. १५६)

इस तरह से यहां रामकण्ठ स्पष्ट कहते हैं कि (१) ग्रन्थकार अपने गुरु की वाणी की स्तुति करता है और (२) वह गुरु आ० वसुगुप्त है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आ० वसुगुप्त स्पन्दकारिका के निर्माता के गुरु हैं, स्वयं उसके निर्माता नहीं हैं। इस बात को समझते हुए भी अपने ही हठ पर डटे रहने के अभिप्राय से क्षेमराज ने इन शब्दों की व्याख्या ही खींच तान से अपने अभिप्राय के अनुकूल की है। वे कहते है कि इस कारिका के द्वारा ग्रन्थकार वसुगुप्त परावाणी रूपिणी बड़ी से भी बड़ी वाणी को प्रणाम करते हैं। परन्तु ऐसी व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि परावाणी में साङ्केतिक शब्दों और अर्थों के वैचित्र्य का जराभर भी आभास नहीं होता। परावाणी में तो एक मात्र, आसीम और परिपूर्ण ''अहं'' का ही विमर्शन होता है। अतः ''विचित्रार्थपदाम्'' यह विशेषण उपयुक्त नहीं बैठता है। क्षेमराज के प्रभाव से प्रभावित आजकल के शोधकार और लेखक भी इस बात की ओर तथा रामकण्ठ की अति विश्वसनीय साक्षी की ओर जरा भर भी ध्यान नहीं देते।

वस्तुतः भट्टकल्लट ने गुरुदेव वसुगुप्त के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए कहा है कि ''वसुगुप्त ने शिवसूत्र रूपी समुद्र में से जिस स्पन्दसिद्धान्त रूपी अमृत का संग्रह किया, उसे ही भट्टकल्लट ने स्पष्टतया प्रकट कर लिया।''

उनके इस कथन से प्राचीन आचार्यों को भी धोखा लगता रहा और वे समझते रहे कि स्वयं वसुगुप्त ही स्पन्दकारिका के निर्माता हैं। तभी तो ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी के द्वितीय खण्ड के पृष्ठ ३० में आ० अभिनवगुप्त ने भी ऐसा ही अस्पष्ट सङ्केत किया है।

उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल से ही विद्वत्-समाज में प्रायः वसुगुप्त को ही कारिका का निर्माता माना जाता रहा। केवल वसुगुप्त की परम्परा के शिष्यगण ही वास्तविकता से परिचित थे। फिर उस युग के आचार्य इतिहास सम्बन्धी ऐसी बातों की ओर प्रायः ध्यान नहीं देते रहे। आ० अभिनवगुप्त ने भी तथ्य की खोज के प्रति यत्न नहीं किया; क्योंकि उन सभी के सामने यह कोई समस्या थी ही नहीं। परन्तु क्षेमराज के समय में यह एक ज्वलन्त समस्या बन चुकी थी। तभी तो विद्वानों के दो वर्गों ने कारिका के उपरोक्त दो भिन्न-भिन्न प्रकार के पद्यों का निर्माण करके उन्हें पहले से ही मूलग्रन्थ में भर रखा था। आ० क्षेमराज को जो चिढ़ भट्टकल्लट से थी उसने इस समस्या को और अधिक प्रज्वलित कर दिया। यदि ऐसी समस्या अभिनवगुप्त के समय में विकटरूप में खड़ी हो गई होती, तो उन्होंने वास्तविक तथ्य की खोज करके उसे प्रकट कर ही दिया होता। ऐसी स्थिति में हमारे लिए रामकण्ठ जैसे प्राचीन आचार्य की साक्षी ही एक दृढतम प्रमाण है। अस्तु।

फिर आजकल के कोई कोई लेखक यह भी लिखते हैं कि वसुगुप्त ने कई अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी। उनमें वे (१) शिवसूत्रवृत्ति, (२) स्पन्दसूत्र, (३) स्पन्दकारिका, (४) वासवी गीता टीका, (५) सिद्धान्तचन्द्रिका आदि ग्रन्थों को गिनते हैं। इनमें से शिवसूत्रवृत्ति क्षेमराज की शिवसूत्र-विमर्शिनी का ही एक संक्षेप मात्र है, जिसे पश्चात् किसी पण्डित ने भट्टकल्लट के नाम से लिखा। स्पन्दसूत्र तो स्पन्दकारिका को ही कहा जाता रहा। क्षेमराज ने भी उन कारिकाओं को ही बहुत बार सूत्र कहा है। स्पन्दकारिका के निर्माता उपरोक्त प्रमाणों के अनुसार भट्टकल्लट ही हैं, वसुगुप्त नहीं हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया, भट्टकल्लट-कृत स्पन्दवृत्ति के अन्त पर इस तरह से लिखा गया हैः—

दृब्धं महादेवगिरौ महेश-
स्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादैः
श्री कल्लटस्तत् प्रकटीचकार॥ (स्पं.वृ. पृ. ४०)

इस श्लोक का आश्रय लेते हुए वर्तमान युग के अनेकों शोधकारी विद्वान् यह कहते हैं कि दृब्धं का अर्थ होता है—लिख डाला। दृभी ग्रन्थने। तदनुसार यह माना जा सकता है कि वसुगुप्ताचार्य ने ही स्पन्दकारिका को लिखा और भट्टकल्लट ने उसकी व्याख्या की। परन्तु इस विषय में विचारणीय बातें ये भी हैं—(१) स्पन्दकारिका के निर्माता भट्टकल्लट ही हैं, इस विषय को सिद्ध करने के कई एक दृढतर प्रमाण ऊपर बताए गए। (२) दृभी धातु का अर्थ ग्रन्थन होता तो है, परन्तु ग्रन्थन लिखने को न कहकर गूंथने को कहते हैं। पुस्तक के पत्र परस्पर गुथें हुए होते हैं, इसी कारण से पुस्तक का दूसरा नाम ग्रन्थ है, लिखे जाने

के कारण से नहीं। (३) 'शिवसूत्रसिन्धोः' में पञ्चमी विभक्ति का तात्पर्य लिखने के अर्थ से मेल नहीं खाता। (४) 'स्पन्दामृत' से तात्पर्य है स्पन्द सिद्धान्त और उस सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए की जाने वाली स्पन्द-साक्षात्कार-मयी साधना। उसी दृष्टि से उसे अमृत कहा गया है। अपने स्पन्दात्मक शिवभाव की प्रत्यभिज्ञा तो परम आनन्दमयी होती हुई अमृत ही है। तो भट्टकल्लट के इस वाक्य का यही अर्थ हो सकता है कि आ० वसुगुप्त ने शिवसूत्र रूपी समुद्र का मन्थन करके उसमें से स्पन्दसिद्धान्त और स्पन्दसाधना रूपी अमृत को खोज कर के निकाला और साथ ही उसे समेट कर मानो उसे गूंथ लिया, अर्थात् उसके अङ्ग प्रत्यङ्गों को परस्पर समन्वय द्वारा एक सर्वाङ्ग सम्पूर्ण सिद्धान्त का रूप दे दिया। तदनन्तर उसी संवारे हुए सिद्धान्त को स्पन्दकारिका के श्लोकों के द्वारा भट्टकल्लट ने जनता के सामने प्रस्तुत करते हुए उसे प्रकट कर दिया। अस्तु। इस विषय पर बहुत विस्तार करना पड़ा।

भगवद्गीता की वासवी टीका श्रीनगर में जनश्रुति में ख्यात तो है परन्तु उसके विषय में लिखित प्रमाण कोई अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। किसी भी ग्रन्थ में, यहां तक कि भगवद्गीता की अन्य प्राचीन काश्मीरी टीकाओं में भी वासवी का कोई भी उल्लेख या उद्धरण नहीं मिल रहा है। हां, लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व श्रीनगर के राजकीय शोधसंस्थान को वासवी की एक अधूरी पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है। वह पाण्डुलिपि इस समय कश्मीर विश्वविद्यालय के बृहत्पुस्तकालय के संस्कृत-पाण्डुलिपि-कक्ष में विद्यमान है। मैंने तेरह वर्ष पूर्व उसे वहां के पुस्तकालय में एक बार देख लिया। उसमें गीता के अनेकों समस्यात्मक स्थलों की टीका को मैंने पढ़ा। तात्पर्य लगभग वही है जो आ० रामकण्ठ-कृत भगवद्गीता भाष्य का है। परन्तु एक बात मैंने उसमें अनोखी देखी। भगवद्गीता की तीन प्राचीन कश्मीरी टीकाएं इस समय मिल रही हैं। वह हैं—(१) रामकण्ठ की शैवी टीका, (२) अभिनवगुप्त की शैवी टीका और (३) भगवद्भास्कर की वैष्णवी टीका। उन तीनों में गीता का मूलपाठ वही दिया गया है जो महाभारत की प्राचीन कश्मीरी शाखा में विद्यमान था। कश्मीर में चौदहवीं शताब्दी तक गीता का वही पाठ चल रहा था। अवन्तिवर्मा ने उसी पाठ को सुनते-सुनते प्राणोत्क्रमण किया था। चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर के ब्राह्मणों को अपने धर्म की रक्षा के लिए कश्मीर से भागना पड़ा। उस समय कश्मीर में पण्डितों के केवल ग्यारह घर किसी तरह से अपने को बचा सकने में सफल रहे। लगभग पचास वर्ष के अनन्तर कश्मीर के एक उदारविचारों वाले शासक, सुल्तान ज़ैनुल अबदीन की प्रेरणा और प्रोत्साहना से कुछ और पण्डित कश्मीर लौट आकर बस गए। वे ही गीता के इस अभिनव पाठ को साथ ले आए। अतः यह पाठ अर्वाचीन है। तो उन तीनों से भी पहले रची गई वासवी में

भी वह पाठ नहीं होना चाहिए था, उसमें भी काश्मीर शाखा वाले महाभारत के अनुसार ही गीता का मूलपाठ होना चाहिए था। परन्तु मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वासवी की उस अधूरी पाण्डुलिपि में गीता का मूल पाठ दक्षिण वाला ही सर्वत्र है, कहीं भी कश्मीरी पाठ नहीं है।

इन बातों के आधार पर दो प्रकार से अनुमान लगाया जा सकता है। (१) या तो वासवी की प्राचीन पाण्डुलिपि में मूलपाठ दिया ही नहीं गया था, केवल तात्पर्य व्याख्या ही अध्यायों के क्रम से दी गई थी और पश्चात् अर्वाचीन काल के किसी लिपिकार ने उसमें मूलपाठ को जगह-जगह भर दिया और वही भर दिया जो उसके समय में वहां प्रचलित था। यह एक क्लिष्ट कल्पना सी लगती है। (२) दूसरी बात यह हो सकती है कि किसी अर्वाचीन पण्डित ने रिक्त स्थान की पूर्ति करते हुए रामकण्ठ की टीका का आसरा लेकर के स्वयं वासवी नाम की अभिनव टीका का निर्माण करके अपने वैयक्तिक घरेलू पुस्तकालय की शान को बढ़ाने का यत्न किया हो। परन्तु सम्भवतः वह पण्डित इतना चतुर नहीं रहा हो कि मूलपाठ भी अभिनवगुप्ती गीता से या रामकण्ठी गीता से ही उतार कर रख देता। अस्तु, उस पाण्डुलिपि पर गहराई से शोधकार्य किए जाने पर ही इस समस्या पर निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता है। वसुगुप्त नाम के कई अन्य आचार्य भी हुए हैं। सिद्धान्तचन्द्रिका को उनमें से ही किसी ने लिखा होगा, क्योंकि उसका उल्लेख शैवदर्शन के किसी भी ग्रन्थ में मिलता नहीं। आ० वसुगुप्त वस्तुतः स्पन्दतत्त्व के साक्षात्कार से उद्बुद्ध होने वाले स्वात्म-आनन्द के चमत्कारात्मक आस्वाद के अभ्यास में ही इतने मस्त रहते रहे होंगे कि उन्हें ग्रन्थ लिखने के प्रति प्रवृत्ति ही नहीं हुई होगी। तभी तो उन्होंने यह काम भट्टकल्लट को ही सौंपा और स्वयं उस चर्वणा को छोड़कर अपेक्षाकृत नीरस लेखन-कला में प्रवृत्त ही नहीं हुए। शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पाद की भी प्रवृत्ति ऐसी ही रही। ऐसा सिद्ध-जनों को बहुत बार हुआ करता है। आ० उत्पलदेव बहुत बड़े-बड़े लेखन कार्य कर चुकने पर यही चाहते रहे कि सतत गति से स्वात्मशिव के साक्षात्कार रूपी अमृत के आसव को ही पीते रहें। तभी उन्होंने संग्रहस्तोत्र में कहा है–

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं
युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरिते-
ष्वापिवन्नपि भवेयमुन्मदः॥ (शि.स्तो. १३-८)

आचार्य अभिनवगुप्त ने सिद्धान्त और साधना के क्षेत्र में किसी भी विषय को छोड़ा

नहीं। इतनी सारी सारस्वत कला की सृष्टि कर चुकने पर उन्होंने भी अन्त पर यही कहा कि मैं अब केवल पारमेश्वरी अद्वय-कथा रूपिणी प्रेयसी के सङ्ग में विश्राम का आनन्द ले रहा हूं–

विश्राम्याम्यहमीश्वराद्वयकथाकान्तासखः साम्प्रतम्। (ई.प्र.वि.वि. खं. ३ अन्ते)

शिवसूत्र के जो तीन खण्ड इस समय कई एक टीकाओं समेत विद्यमान हैं, उन्हें क्षेमराज ने क्रम से शाम्भव-उपाय, शाक्त-उपाय और आणव-उपाय के प्रतिपादक कहा है। परन्तु उसके अन्तिम प्रकरण में वस्तुतः तीनों ही उपायों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग परस्पर मिले जुले से स्पष्ट झलक रहे हैं। फिर यदि प्रथम खण्ड का विषय शाम्भव-उपाय ही होता, तो उसमें उस उपाय के लक्षण, उदाहरण, भेद, प्रभेद आदि का निरूपण किया गया होता। फिर उसमें शाम्भव योग के प्रधान अङ्ग बनने वाले मातृका-क्रम या मालिनी - क्रम का कहीं स्पष्ट निरूपण नहीं मिल रहा है। इन बातों की ओर संकेत अवश्य हैं, परन्तु यदि सूत्रकार को उपायत्रय का ही निरूपण करना अभिप्रेत होता, तो शाम्भव-उपाय में और अन्य उपायों में जो परस्पर अन्तर है, उस पर भी ज़रा भर सङ्केत अवश्य किया गया होता और शाम्भवउपाय के अङ्ग प्रत्यङ्गों का विश्लेषण भी किया गया होता, जैसा कि तन्त्रालोक, तन्त्रसार आदि में किया गया है। शिवसूत्र के प्रथम खण्ड में शाम्भव-उपाय के विषय में बहुत कुछ कहा तो गया है, परन्तु वह इस कारण से कहा गया है कि सूत्रकार वस्तुतः शाम्भवी साधना का ही उपदेश करना चाहता है। उसकी दृष्टि ऐसी है कि शाम्भव-उपाय ही आत्मसाक्षात्कार का वास्तविक साधन है। फिर सूत्रकार यह भी कहना चाहता है कि शाम्भव उपाय पर स्थिति आ जाने पर योगी को शाक्त उपाय द्वारा साध्य ज्ञान स्वयमेव उद्बुद्ध हो जाता है। अतः उस ज्ञान को सहज विद्या कहा गया है। शाक्तोपाय में यथार्थ वस्तु स्थिति के विकल्पात्मक ज्ञान को बुद्धि में ठहराकर उसके संस्कार को पुनः-पुनः अभ्यास के द्वारा परिपक्व बनाना होता है। परन्तु शाम्भव योगी को स्वयमेव विना किसी अभ्यास के ही विकल्प संस्कार सिद्ध हो जाता है और यथार्थ ज्ञान की दृष्टि के खुल जाने पर उसका दृष्टिकोण कैसा बनता है, इस इस प्रकार की बातों की ओर बहुत प्रकार के निर्देश शिवसूत्र के द्वितीय खण्ड में मिलते हैं। इस कारण से भट्ट भास्कर ने उस द्वितीय खण्ड को शाक्तोपायनिरूपण न कहते हुए "सहजविद्योदयः" ऐसा नाम दिया है। प्रथम खण्ड को उसने "चित्प्रकाशस्वरूप निरूपणम्" यह नाम दिया है। शाम्भवी साधना से चिद्रूप आत्मा की संवित्-स्वरूपता का प्रकाश स्वयमेव हो जाता है और उसी के फल स्वरूप योगी को शुद्धविद्या का उदय सहजभाव से ही हो जाता है। अतः शिवसूत्र के द्वितीय खण्ड का नाम यही समुचित है। यदि सूत्रकार को इस द्वितीय प्रकरण के द्वारा शाक्तोपाय का निरूपण करना अभिप्रेत होता, तो उसके

अङ्गभूत ज्ञानयोगात्मक शाक्त उपासना का, परापूजा का, और उसके याग, होम, व्रत, स्नान, पूजन, योग आदि प्रकारों का भी निरूपण उसमें किया गया होता, जैसा कि तन्त्रालोक, तन्त्रसार, विज्ञानभैरव, शिव दृष्टि आदि में किया गया है। फिर इसमें मातृकाचक्र सम्बोध का उल्लेख नहीं किया गया होता, क्योंकि वह तो शाम्भव-उपाय का विषय है। तो भट्टभास्कर की ही दृष्टि यथार्थ है। तदनुसार शाम्भव साक्षात्कार के स्थिर हो जाने पर अनेकों शाक्त भूमिका के चमत्कार शिवयोगी को विना यत्न के उद्बुद्ध हो जाते हैं। तो शाम्भवी साधना का उत्तम आनुषङ्गिक फल यह शुद्ध विद्या का सहज उदय है। शुद्ध-विद्या का उदय जब स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, तो योगी को अनेकों व्यावहारिक सिद्धियां स्वयमेव विना यत्न के प्राप्त होती हैं। उन सिद्धियों को विभूतियां कहते हैं। सूत्रकार ने शाम्भवयोग के द्वारा उद्बुद्ध होने वाली और सहजविद्या के उदय से स्पष्ट प्रकट होने वाली अनेकों व्यावहारिक विभूतियों का वर्णन शिवसूत्र के तीसरे प्रकरण में किया है। इसलिए भट्टभास्कर ने इस प्रकरण को "विभूतिस्पन्दः" नाम दिया है, क्योंकि जिन-जिन विभूतियों का स्पन्दन शाम्भवी साधना से होता है, उन्हीं को लेकर के सूत्रकार ने इसकी रचना की है। क्षेमराज ने इस प्रकरण को 'आणव-उपाय प्रकरण' कहा है। यदि आणव उपाय ही इसका विषय होता तो ध्यान, उच्चार, करण, ध्वनि, स्थान कल्पना, कालाध्वा, देशाहवा आदि जो आणव उपाय के प्रकार हैं, उनका वर्णन इसमें किया गया होता। अतः यह आणव उपायों का प्रकरण नहीं है, अपितु शाम्भवी साधना के व्यावहारिक फलों का निरूपण करने वाला प्रकरण है। सूत्रकार ने वस्तुतः एकमात्र शाम्भव-उपाय को ही स्वात्म साक्षात्कार का साधन बताया है। उस उपाय का नाम उसने "उद्यम" अर्थात् 'इच्छा शक्ति का तीव्र प्रयोग' रखा है। कई एक सूत्रों के द्वारा उसका ढंग थोड़ा बहुत जतलाकर उससे योगी की स्थिति कैसी हो जाती है और संसार के प्रति उसका दृष्टिकोण कैसा बनता है, इन इन बातों पर पहले प्रकरण में प्रकाश डाला गया है। शिवसूत्रों के प्रकरणों के नाम रखने में भी भट्टभास्कर के ही विचार, सहज, स्वाभाविक और यथार्थ प्रतीत होते हैं। वस्तुतः उसे ऐसे रहस्य गुरु परम्परा के साक्षात् उपदेश से प्राप्त हुए थे, जबकि क्षेमराज के विचार उसकी अपनी ही कल्पना पर आश्रित हैं। वस्तुतः उसे नई नई कल्पनाओं के द्वारा अपने बुद्धिवैभव की तथा अपनी बहुश्रुतता की धाक जमाने का एक ओर से चस्खा था और दूसरी ओर से भट्टकल्लट जैसे प्राचीन गुरुओं की परम्पराओं से ईर्ष्या थी, इसी कारण उसने ऐसी ऐसी असंगत कल्पनाएं की। वसुगुप्तगुरु से लेकर के अभिनवगुप्तगुरु तक का युग काश्मीर शैव दर्शन के वास्तविक विकास का युग रहा। क्षेमराज से लेकर के जो भी और विकास इस शास्त्र के वाङ्मय को प्राप्त हुआ, उसमें विकार की भी कोई मात्रा ओतप्रोत भाव से साथ चलती ही रही। तो उस युग को आंशिक विकार का युग भी माना जा सकता है। ऐसा प्रत्येक शास्त्र के इतिहास में हुआ

करता है। अद्वैतवेदान्त के विकार की पराकाष्ठा ही श्री हर्ष का खण्डन खण्डखाद्य है। गौतमीय न्यायदर्शन का विचित्र विकार गङ्गेश उपाध्याय के ग्रन्थों में मिलता है। व्याकरण सूत्रों की सरल रीति को भट्टोजिदीक्षित ने विकार का रूप दे दिया। संस्कृत काव्य कला का सौन्दर्य जब कालिदास की कला में पराकाष्ठा पर पहुंच गया तो उससे होड़ लेते हुए भारवि, माघ आदि ने उसे विकास की अपेक्षा विकार की ओर प्रेरणा दी। कुछ ऐसी ही बात काश्मीर शैवदर्शन के साथ क्षेमराज की कृतियों से हो गई। अस्तु।

शिवसूत्र की पूर्वोक्त दो परम्पराओं में न केवल व्याख्याओं में ही अन्तर है, अपितु कहीं कहीं पाठभेद भी हैं। तदनुसार–

शिवसूत्र के प्रथम प्रकाश के सातवें सूत्र का पाठ भट्टभास्कर ने यह दिया हैः–

जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तभेदे तुर्याभोगसंवित्। (शि.सू. १-८)

परन्तु क्षेमराज ने जो पाठ दिया है वह यह हैः–

जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तभेदे तुर्याभोगसम्भवः। (शि.सू. १-८)

व्याख्या में विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

आगे क्षेमराज की परम्परा में प्रथम प्रकाश का १६वां सूत्र यह है–

शुद्धतत्त्वानुसन्धानाद्वाऽपशुशक्तिः। (शि.सू. १-१६)

भास्कर की परम्परा में यहां 'अपशुशक्तिः' इस समस्त पद के स्थान पर 'स्वपदशक्तिः' तथा 'अनुसन्धानात्' के स्थान पर केवल 'सन्धानात्' ऐसा पाठ है। दूसरा अन्तर यह भी है कि वहां इस एक सूत्र को दो सूत्र मान करके उनकी व्याख्या पृथक् पृथक् की गई है। तदनुसार वहां १६वां सूत्र यह है– **शुद्धतत्त्वसन्धानाद्वा** (शि.सू. १-१६)

और १७वां सूत्र यह है–**स्वपदशक्तिः** (शि.सू. १-१७)

वर्तमान संस्करण का पाठ विशेषतया भट्टभास्कर के ही पाठ का अनुसरण करता है। परन्तु यदि कोई शोधछात्र इस संस्करण में से सूत्रों को उद्धृत करके क्रम संख्या तदनुसार ही लिख दे तो आगे पढ़ने वाले भ्रम में पड़ सकते हैं। इस कारण से भट्टभास्कर और क्षेमराज के द्वारा दी गई क्रम संख्या को समान बनाए रखने के अभिप्राय से वर्तमान संस्करण में इन दो सूत्रों की क्रम संख्या १६-१ और १६-२ दी जा रही है, जिससे १७ से लेकर के आगे चलने वाली संख्या एक जैसी बनी रहे और पढ़ने तथा शोधकार्य करने वाले छात्र भ्रम में

उलझ न जाएं।

द्वितीय प्रकाश के चतुर्थ सूत्र का पाठ दो परम्पराओं में इस इस प्रकार का है–

१. गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्या स्वप्नः। (शि.सू. २-४)

२. गर्भे चित्तविकासो विशिष्टोऽविद्यास्वप्नः। (शि.सू. २-४)

इन दो पाठों को मानते हुए की गई व्याख्याओं में जो अन्तर पड़ता है उसे आगे व्याख्यात्मक प्रकरण में स्पष्ट किया गया है।

तृतीय प्रकाश के चौदहवें सूत्र के अनन्तर भट्टभास्कर के पाठ में एक और सूत्र विद्यमान है, जिसका पाठ यह है–

विसर्गस्वाभाव्यादबहिः स्थितेस्तत्स्थितिः। (शि.सू. ३-१५)

यह सूत्र क्षेमराज के पाठ में कहीं है ही नहीं। छात्रों की उलझन का निवारण करने के लिए वर्तमान संस्करण में इस सूत्र की व्याख्या १४/२ दी जा रही है जिससे १५ से लेकर के सूत्र-क्रम-संख्या समान बनी रहे।

तृतीय प्रकाश के १८वें सूत्र में पदच्छेद और अवग्रह के आधार पर जो पाठभेद माना गया है और उसके अनुसार जो व्याख्याएं की गई हैं उनमें थोड़ा सा अन्तर पड़ता है, जिसे व्याख्यात्मक प्रकरण में स्पष्ट किया गया है। पाठभेद ऐसे है–

विद्याविनाशे जन्मविनाशः। (शि.सू. ३-१८)

विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः। (शि.सू. ३-१८)

उसी प्रकाश के २२वें और २३वें सूत्रों को उन दो परम्पराओं में आगे पीछे करके रखा गया है। एक परम्परा में जो २२ वां सूत्र है, वह दूसरी में २३ वां है और एक का २३ वां दूसरी में २२ वां है। व्याख्या में उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। प्रकृत संस्करण में भट्टभास्कर के ही क्रम को अपनाया गया है।

तृतीय प्रकाश के ३३वें सूत्र में पाठभेद ऐसा है–

सुखासुखयोर्बहिर्मननम्। (शि.सू. ३-३३)

सुखदुःखयोर्बहिर्मननम्। (शि.सू. ३-३३)

व्याख्या में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

त्रिक साधना के तीन उपायों के स्वरूप का भी ज़रा भर स्पष्टीकरण यहां आवश्यक प्रतीत होता है। शाब्दी कल्पना से अनुस्यूत जो चित्त-विचारात्मक ज्ञान होता है उसे विकल्पज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का साम्राज्य समस्त जाग्रत् व्यवहारों और स्वप्नात्मक व्यवहारों पर हुआ करता है। सुषुप्ति में चित्त प्रायः विचारहीन होकर ठहरता है। वहां वैयक्तिक और सङ्कुचित अहंरूप चेतना ही काम करती है। अतः वहां स्फुट विकल्पात्मक अवभास नहीं होता है। फिर भी उसे सर्वथा निर्विकल्प अवस्था नहीं कहा जाता है, क्योंकि स्वरूप संकोच से युक्त और भेदमयी दृष्टि से अन्तः अनुस्यूत विशेष विशेष वैयक्तिक चेतना वहां प्रकाशित होती है, जो अन्य वैयक्तिक चेतनाओं से भिन्न होती है। भेद की ऐसी अनुस्यूतता भी सूक्ष्मतर विकल्प कल्पना का ही फल होता है। शुद्ध निर्विकल्प अवस्था तो वस्तुतः तुर्या दशा में ही चमक उठती है। शाम्भव उपाय उस आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास को कहते हैं जिसमें चित्त जागता हुआ और सावधान रहता हुआ ही विषयहीन बना रहता है, विषयों के प्रतिबिम्बों को ग्रहण न करता हुआ ही सावधान बना रहता है; और साङ्केतिक शब्दों की कल्पना जहां ज्ञान के भीतर अनुस्यूत होकर नहीं रहती है। उस अवस्था में चित्त की अवधान शक्ति संवित् स्वरूप आत्मा के प्रकाश के साम्मुख्य में उस प्रकाश के साथ एक हो जाती है और एकमात्र असीम, शुद्ध और सर्वशक्तिमान् "अहं" ही सर्वतः चमकने लगता है। असाङ्केतिक स्वभाव का शुद्ध स्वात्मविमर्शन ही यहां "अहं" होता है, चैत्र, मैत्र आदि नहीं। इस दशा की अनुभूति साधारण मानवों को किसी भाव के तीव्र आवेश में क्षणभर के लिए हुआ करती है, परन्तु उसकी स्थिति इतने सूक्ष्मतर काल के ही लिए ठहरती है कि उसका अन्तः परीक्षण (introspection) करना सम्भव ही नहीं हो पाता। आत्मा की उस तुर्यात्मिका स्वरूप स्थिति में चमकते रहने के अभ्यास को शाम्भवोपाय कहते हैं। इस उपाय में मन निवातदीप की तरह निश्चेष्ट बना रहता है। कुछ भी न सोचता हुआ सावधान बना रहता है, निद्रा में खो नहीं जाता। बुद्धि न तो विषयों के प्रतिबिम्बों को धारण करती है और न ही उनके विषय में नामों या आकारों की कल्पना ही करती है, परन्तु फिर भी जागती हुई सावधान बनी रहती है; निद्रा में विलीन नहीं होने पाती। एकमात्र संवित् स्वरूप अपना आप ही अपने ही चित्प्रकाश से चमकता रहता है। उसके इस प्रकार से चमकते रहने पर ही सावधान रहने का अभ्यास शाम्भवोपाय कहलाता है।

आत्मस्वरूप की भी दो अवस्थाएं होती हैं। एक होती है अज्ञानकृत संकोच से युक्त जिसे सुषुप्ति कहते हैं। उसमें आत्मस्वरूप एकमात्र शुद्ध चेतना के रूप में चमकता रहता है, शान्तभाव में और क्लेशहीन दशा में प्रकाशमान् रहता है; परन्तु उसमें ऐश्वर्य की कोई

भी अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती है। प्राचीन माध्यमिक और योगाचार शाखाओं के बौद्ध भिक्षु चेतना के उसी स्वरूप का अभ्यास करते रहे। विवर्त्तवादी वेदान्ती भी प्रायः उसी स्वरूप की उपासना करते रहे। जापान के ज़ेन शाखा के बौद्ध भिक्षु अब भी उसी सौषुप्त चेतना का अभ्यास करते रहते हैं। इसी कारण से ये सभी सम्प्रदाय प्रायः अनीश्वरवादी हैं। वेदान्ती ईश्वर की ईश्वरता के मूल आधार को ब्रह्म के स्वरूप में देख नहीं पाए। अतः उसकी व्याख्या के लिए ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व माया की कल्पना करते आए। पातञ्जल योग के अभ्यासी भी सौषुप्त और वैयक्तिक चेतना से आगे नहीं बढ़ पाये। अतः ईश्वर को पुरुष विशेष मात्र मानते रहे, सृष्टि-संहार आदि लीलाओं का सूत्रधार उसे नहीं बताते आए। वर्तमान युग के कई एक योग सम्प्रदायों के गुरु इसी सौषुप्त चेतना का अभ्यास सिखाते हैं; जैसे कृष्णमूर्ति, महेशयोगी आदि के सम्प्रदाय। ये सभी योग शाम्भवोपाय के भीतर न आते हुए सुषुप्ति की साधना के उपाय हैं।

आत्मदेव के स्वरूप की उत्कृष्टतर अवस्था वह है जिसमें अहंरूप चेतना को ऐसी स्वसंवेदनात्मक निर्विकल्प अनुभूति हुआ करती है कि यह सारा संसार मुझसे प्रकट हुआ है, मेरे ही भीतर प्रतिबिम्बवत् चमक रहा है और मुझसे सर्वथा अभिन्न है। इसी दृष्टि से आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है–

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः।। (तं. आ. ३-२८०)

शाम्भवोपाय में योगी को अपने इस प्रकार के ऐश्वर्यमय स्वरूप में प्रवेश करने के प्रति अपनी इच्छाशक्ति का सुप्रबल प्रयोग करना होता है। वैसा प्रयोग करते ही उसे ऐसा साक्षात्कार हो जाता है कि यह छत्तीस तत्त्वों वाला जगत उसी की अहंरूपिणी असीम संवित् के भीतर प्रतिबिम्बवत् चमक रहा है। उसे अपनी संवित् के ऐश्वर्य के सोलह पहलुओं का साक्षात्कार होने लगता है, जो सोलह स्वरवर्णों के साथ अभेदभाव से चमक उठते हैं। फिर उसे अपनी पारमेश्वरी शक्तियों के प्रतिबिम्ब छत्तीस तत्त्वों के रूप में चमकते हुए अनुभव में आते रहते हैं और वे प्रतिबिम्ब उसे क से क्ष तक के व्यञ्जन वर्णों के साथ अभेदभाव से चमक उठते हैं। इतनी सारी अनुभूति उसे स्वसंवेदन से अर्थात् अपनी चेतना के प्रकाश से ही हुआ करती है। उसका अपना "अहं" ही इन सभी प्रतिबिम्बों को ले करके चमक उठता हैं। उसकी बुद्धि या उसका मन इस साक्षात्कार में कोई सहयोग न तो देते ही हैं और न दे ही सकते हैं। वे भी अहं के चित्प्रकाश के भीतर प्रतिबिम्बवत् ही चमकते रहते हैं। इस प्रकार के आत्मसाक्षात्कार के अभ्यास को शाम्भव-उपाय कहते हैं। यही आत्मदर्शन का साक्षात् उपाय है। जब यही उपाय परिपक्व हो जाता है तो तब

इच्छाशक्ति का विशेष प्रयोग किए विना ही योगी को अपने ऐसे स्वरूप का साक्षात्कार होने लगता है। ऐसी स्थिति में शाम्भव-उपाय ही अनुपाय कहलाता है। इसी अनुप्राय साक्षात्कार के विषय में आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावलि में कहा है–

न ध्यायतो न जपतः स्याद् यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।। (शि.स्तो. १-१)

ऐसा अनुपाय साक्षात्कार योगी को तब होता है जब उसे इसके प्रति अतिशय प्रेम हृदय में उमड़ आए। तभी तो इसे भक्ति कहा गया। शाम्भवोपाय को इच्छोपाय और अनुपाय को आनन्दोपाय भी कहते हैं। इच्छायोग और आनन्दयोग भी इनके अन्य नाम हैं।

शाम्भव-उपाय पर पक्की स्थिति के हो जाने पर शाक्त उपाय की विभूतियां स्वयमेव उद्बुद्ध हो जाती हैं। उनके ऐसे उद्बोध को ही भट्टभास्कर आदि ने सहज-विद्योदय कहा। फिर शाक्त उपाय से प्राप्य फल भी अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। वैसा हो चुकने पर आणव-उपाय की विभूतियां भी स्वयमेव परिस्पन्दित हो जाती हैं। तभी तो इस तृतीय भूमिका को विभूतिस्पन्द कहा गया।

शाक्त उपाय के अभ्यास में अपने वास्तविक परमेश्वरतात्मक स्वभाव के विकल्पात्मक ज्ञान का पुनः पुनः अभ्यास करना होता है। इसीलिए इस उपाय को ज्ञानोपाय या ज्ञानयोग कहा गया है। "मैं परमेश्वर हूं, यह जगत मेरी सृष्टि है, सब कुछ मुझमें है, मैं ही सर्वत्र हूं, मैं ही सारे जगत का सञ्चालक हूं, सब कुछ तो मैं ही हूं और सब कुछ से परे भी मैं ही हूं।" इस इस प्रकार की भावना के अभ्यास को शाक्त उपाय कहते हैं। ऐसी भावनाओं का अभ्यास सतत गति से इतना अधिक करना होता है कि ये भाव साधक की आत्मा पर इतने गहरे अङ्कित हो जाएं कि जीवभाव के उसके घने संस्कार मिट ही जाएं। इस शाक्त उपाय के अनेकों ही प्रकार होते हैं, जिन्हें तन्त्रालोक, तन्त्रसार, विज्ञानभैरव, शिवदृष्टि आदि ग्रन्थों में विस्तार से कहा गया है।

शाम्भव उपाय आलम्बन हीन होता है। शाक्त उपाय में चित्त का आलम्बन अभ्यासी का अपना आप ही बनता है। यह शुद्ध विकल्पमय अभ्यास होता है, जिससे अशुद्ध विकल्प के संस्कार क्षीण होते हुए मिट ही जाते हैं। आणव-उपाय भी विकल्प-ज्ञानमय ही होता है। परन्तु इसमें आत्मा से अतिरिक्त कई एक प्रमेय पदार्थ भावना के आलम्बन बनते हैं। फिर इस उपाय में मानसी क्रिया की, अर्थात् कल्पनात्मक प्रयत्न की, प्रधानता बनी रहती है। शाक्तोपाय में उस क्रिया के ज्ञानरूप अंश की प्रधानता रहती है और मानस यत्नरूप क्रियांश गौण होकर सहयोग देता है। आणव उपाय में मानसी कल्पना का प्रयत्नात्मक

अंश ही प्रधानतया उभरा रहता है। अतः इस उपाय को क्रिया योग या क्रियोपाय भी कहते हैं। इस दृष्टि के अनुसार पांतजल योग सारे का सारा क्रिया योग ही है। आणव योग के आलम्बनों में से सबसे ऊंचा स्थान बुद्धि का है, क्योंकि बुद्धि का स्थान आत्मचेतना के निकटतम है। बुद्धि को आलमबन बनाकर उसपर परिपूर्ण शिवभाव की भावना के अभ्यास को त्रिक शास्त्र में बुद्धि-ध्यान कहते हैं, जो पातञ्जलयोग के ध्यान से भिन्न है। बुद्धि के बाद स्थान आता है जीवन-शक्तिरूप प्राण का, जिस की पांच वृत्तियों को प्राण, अपान आदि नाम दिए गए हैं। इन प्राणवृत्तियों के व्यापारों पर शिवभाव की भावना के द्वारा जो अभ्यास किया जाता है उसे उच्चारयोग कहते हैं। इस योग के अभ्यास से आत्म-आनन्द की छः भूमियों की अनुभूति हो जाती है, जो एक दूसरे से उत्कृष्ट हैं। इन्हें क्रम से निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द कहते हैं। इन छः भूमिकाओं से परे जो सर्वथा असीम आत्म-आनन्द होता है, उसे जगदानन्द कहते हैं। उच्चारयोग के अभ्यास में साधक एक-एक करके आत्म आनन्द की इन सभी भूमिकाओं को पार करता हुआ अन्ततो गत्वा जगदानन्द की स्थिति में जब प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसे अपने परिपूर्ण परमेश्वर-भाव का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसा होते होते उसके भीतर पांच लक्षण प्रकट हो जाते हैं, जो उस अभ्यास की सफलता को जतलाते हैं। (१) पहले तो परिपूर्णता के स्पर्शमात्र से उसे आनन्द का आस्वाद आने लगता है। (२) तदनन्तर ज्यों ही वह उस आनन्दमयी चेतना में प्रवेश करने लग जाता है तो उसका शरीर उछलने लगता है। (३) स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के साथ उसका जो आत्मस्वरूपता का भाव जन्म जन्मान्तरों से चला आता है जब वही भाव संवित् के भीतर विलीन होने लगता है, तो उसका शरीर थरथराता है। (४) शुद्ध संवित् के भीतर प्रवेश करते ही उसे निद्रा आने लगती है और (५) संवित् स्वरूपता पर पूरी तरह से आरूढ हो जाने पर वह झूमने लग जाता है। उच्चारयोग के ऐसे ऐसे रहस्यों पर आ० अभिनवगुप्त ने विस्तार से प्रकाश डाला है। योग के ऐसे रहस्यात्मक प्रकारों का बौद्ध, जैन, पातञ्जल, गोरक्ष, वैष्णव आदि योगशास्त्रों में उल्लेखमात्र भी नहीं मिलता है और न ही आत्म-आनन्द का ऐसा विश्लेषण कहीं अन्यत्र किया गया है।

अवरोह क्रम में आणव उपाय के तीसरे स्तर के योग को करणयोग कहते हैं। इसमें शरीर के भिन्न-भिन्न नाड़ी चक्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणाओं के अभ्यास से भिन्न-भिन्न प्रकार की योगसिद्धियां अनायास ही प्राप्त हो सकती हैं। उन सिद्धियों का दुरुपयोग भी हो सकता है। अतः आ० अभिनवगुप्त ने उन धारणाओं का स्पष्टीकरण नहीं किया है। चौथे स्तर के आणव योग का अभ्यास श्वासप्रश्वास की ध्वनि पर चित्त को एकाग्र करके

और उस पर विशेष बीजमन्त्रों का आरोप करते हुए उन मन्त्रों से अभिव्यक्त होने वाले तत्त्वज्ञान की भावना के द्वारा किया जाता है। यह प्रचलित राजयोग के अजपायोग के काफी समीप आ जाता है। पांचवें प्रकार के आणव योग को बाह्य योग कहते हैं। उसमें अपने शरीर से बाह्य देश और काल को धारणा का आलम्बन बनाया जाता है। देश के सूक्ष्मतर स्वरूप को कला (निवृत्ति आदि पांच) कहते हैं। एक एक कला कई कई तत्त्वों को व्याप्त करती है। तत्त्वों के ऐसे सूक्ष्मतर स्वरूपों को ही कला कहते हैं। पांच कलाओं के विकसित रूप छत्तीस तत्त्व हैं। उन तत्त्वों से बने हुए ११८ भुवन हैं। भुवन स्थूलाकार हैं, तत्त्व सूक्ष्माकार हैं और कलाएं सूक्ष्मतर आकार की हैं। इस तरह से देशाध्वा तीन प्रकार का है। काल की गणना ज्ञानक्षणों से आरम्भ होती है। ज्ञान क्षणों को वर्णों से, अक्षरात्मक बीजमन्त्रों से और शब्दात्मक पदों से मापा जाता है। अतः कालाध्वा के ये तीन प्रकार बनते हैं। साधक अपने एक एक श्वास-प्रश्वास के भीतर मुहूर्त्त, घटिका, प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष, युग, कल्प, महाकल्प आदि काल-परिमाणों की भावना का अभ्यास करता है। उससे वह काल की सीमा से मुक्त होकर अकाल बन जाता है। वह अपने शरीर के भीतर भिन्न-भिन्न देशों को, भुवनों को, तत्त्वों को और कलाओं को भी भावना के अभ्यास से समा लेता है। उससे वह देशकृत सीमा से छुटकारा पा जाता है और साथ ही भिन्न-भिन्न भुवनों में प्राप्य ऐश्वर्य के भोगों को प्राप्त करता है। इस तरह से इस बाह्ययोग से भुक्ति की प्राप्ति के साथ ही साथ क्रम से मुक्ति की ओर गति होने लग जाती है। इस बाह्य योग को षडध्व योग या स्थान-कल्पना योग भी कहते हैं। इसमें काल के तीन और देश के तीन अध्वा आते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया।

शिवसूत्र में त्रिकयोग के इतने प्रपञ्चों को छुआ भी नहीं गया है। वहां केवल शाम्भव योग का सामान्य निरूपण और उसकी परिपक्वता से प्राप्य फलों का निरूपण किया गया है। परन्तु क्षेमराज ने इस ग्रन्थ को तीन योगों का प्रतिपादक माना है, इस कारण से उसके ऐसे विचार पर आलोचनात्मक अध्ययन करने के लिए त्रिक आचार के तीनों ही योगों का संक्षिप्त दिग्दर्शन यहां कराना पड़ा। अन्यथा केवल शाम्भव-योग का निरूपण करना ही पर्याप्त होता। अस्तु।

मङ्गलम्।

ॐ नमः शिवाय।

नमः शिवाय सततं परिपूर्णस्वरूपिणे।
स्वस्वभाववशान्नित्यं पञ्चकृत्यविधायिने॥ १॥

निग्रहानुग्रहाभ्यां स्वं गोपिने सम्प्रकाशिने।
लीलां प्रकटिने नित्यं विचित्रां बन्धमोक्षयोः॥ २॥

अज्ञानतिमिरान्धानां जीवानां क्लेशशान्तये।
युगे युगे करुणया शास्त्रालोकप्रवाहिणे॥ ३॥ (त्रिभिः कुलकम्)

निग्रहेऽनुग्रहे शक्तो ज्ञानविज्ञानवारिदः।
दुर्वासा जयताद्द्रष्टा शिवशास्त्रप्रवर्तकः॥ ४॥

जयन्ति गुरवः पूर्वे तेरम्बमठिकाश्रयाः।
सिद्धाश्च वसुगुप्ताद्याः सोमानन्दादयस्तथा॥ ५॥

रहस्यां शाम्भवीं युक्तिं योऽदिशन्मे स मद्गुरुः।
जयतात् करुणामूर्तिः श्रीमानमृतवाग्भवः॥ ६॥

शिवादिक्षितिपर्यन्ताः षट्त्रिंशत्तत्त्वविस्तराः।
अकलात् सकलान्ताश्च विविधाः प्राणिनां गणाः॥ ७॥

अष्टादशाधिकं चित्रं भुवनानां शतं तथा।
प्रोता यस्मिन् परे भावे सूत्रे मणिगणा इव॥ ८॥

स शिवः शिवसूत्राणामर्थतत्त्वविवेचने।
प्रदातुं क्षमतां मह्यं कृपया सम्प्रसीदतु॥ ९॥ (त्रिभिः कुलकम्)

विवृतिः शिवसूत्राणां रच्यते यन्मयाधुना।
साधकास्तेन हृष्यन्तु सन्तुष्यन्तु मनीषिणः॥ १०॥

नन्दन्तु सिद्धयोगिन्यः सम्प्रसीदन्तु देशिकाः।
तीव्रेण शक्तिपातेनानुगृह्णातु शिवोऽपि माम्॥ ११॥

शिवसूत्रविवृतिः
प्रथमः प्रकाशः
(चित्प्रकाशस्वरूप निरूपणाख्यः)

स्वस्पन्दमात्रतो नित्यं प्रपञ्चाभासकारिणे।
प्रत्यभिज्ञैकसाराय शङ्कराय नमो नमः।।

१. चैतन्यमात्मा।

चेतयते इति चेतनः। तस्य भावश्चैतन्यम्। भावस्तावत् वस्तुनः सत्ताधायकं तत्त्वम्। चेतनस्य चेतनत्वापादकं तत्त्वं चैतन्यम्। तदेव तस्य सारभूतं स्वरूपम्। तद्राहित्येन चेतन एवासौ नाभविष्यत्। चेतनत्वं च तस्य चितिव्यापार संवहनस्वभावत्वम्। चितिव्यापारश्च ज्ञानं वा क्रिया वेति। वस्तुत उभे ते परस्परमविनाभूते। ततश्चैतन्यं ज्ञानक्रियास्वातन्त्र्यम्। तदेवात्मा। अतति सर्वगतो भवति, सर्वाकारतां दर्पणनगरन्यायेन प्राप्नोतीति। मातीति सर्वं व्याप्नोति। सर्वगतः सर्वव्यापकश्च चित्प्रकाशः आत्मा। तस्य लक्षणं परिपूर्णज्ञान-क्रियास्वातन्त्र्यम्। स्वस्माच्छुद्धात् संवित्-स्वरूपादविचलन्नपि सदा प्रतिबिम्बन्यायेन विश्वाकारतयाऽऽत्मानमाभासयति, विना कारणान्तरसाहाय्यम्। वैदान्तिक ईश्वरो मायाख्याया उपाधेः सान्निध्यादेव सृष्ट्यादि करोति, परं शैवदर्शनदृष्ट्या स्वतन्त्रः आत्मा स्वस्वातन्त्र्यलीलयैव स्वयमेवात्मानं दर्पणनगरन्यायेन जगदाकारतयावभासयति। तदेतत् सामर्थ्यमेतत्स्वभावत्वं चात्मनः स्वातन्त्र्यमैश्वर्यं च। एतदेव परिपूर्णज्ञान-क्रिया-स्वभावत्वमात्मनः। चैत्रमैत्रादौ यत् परिमितं ज्ञानक्रियासामर्थ्यं दृश्यते, तस्यावभासनमपि परस्यात्मनः परात् स्वातन्त्र्यादेव भवति मायावभासपूर्वकम्। तास्ववस्थास्वप्यसावेव निजस्वातन्त्र्य-विलासत एवातति, तद्भूमिकां प्राप्नोतीवेति।

परमेश्वरतात्मक परिपूर्ण स्वातन्त्र्य को शैवदर्शन में चैतन्य कहते हैं। वह चैतन्य ही परमेश्वर कहलाता है और वही प्रत्येक प्राणी की आत्मा है। वही प्रत्येक प्राणी की अवस्था में और जड़ पदार्थों की अवस्था में भी अपने स्वभावभूत स्वातन्त्र्य से वहां-वहां प्राप्त होकर के उस-उस रूप में प्रकट होता रहता है। ऐसा होते रहना उसका अपना स्वभाव है। वह स्वभाव से ही लीला विलास करता रहता है; जैसे चाहता है वैसे करता

रहता है। ऐसा स्वातन्त्र्य ही उसका चैतन्य है। अपने स्वातन्त्र्य की लीला के विलास में स्वयमेव मायारूपी आवरण को प्रकट करके उससे अपने वास्तविक स्वरूप और स्वभाव को छिपा कर एक अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और परिमितस्वरूप वाले जीव के रूप में प्रकट हो जाता है। फिर योगादि के अभ्यास के द्वारा अपने भुला डाले हुए स्वरूप और स्वभाव को पुनः पहचान कर कृतकृत्यता का अनुभव करता है। इस बन्धमोक्ष क्रीडा में तथा सृष्टि संहार आदि पारमेश्वरी क्रियाओं में उसे अपने से भिन्न किसी उपाधि की सहायता लेनी नहीं पड़ती है, जब कि अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म अपने से भिन्न मायास्वरूप उपाधि के संसर्ग से ही ईश्वरता के व्यवहार को चला सकता है। तो शैवदर्शन में आत्मा सर्वथा स्वात्मनिर्भर है। यही उसका स्वातन्त्र्य है और यही उसकी परमेश्वरता है। अतः इस स्वातन्त्र्य को ही आत्मा कहा गया, क्योंकि "आत्मा का स्वातन्त्र्य" इस प्रयोग में जो सम्बन्ध कारक का प्रयोग किया जाता है, वह "राहु का सिर" इस प्रकार के प्रयोग की तरह काल्पनिक भेद का आसरा लेकर के किया जाता है। वस्तुतः आत्मा स्वातन्त्र्य है और स्वातन्त्र्य आत्मा है, ऐसा इस सूत्र का तात्पर्य है।

चेदात्मा चैतन्यं तर्हि कुतो न तथावबोधो जनानाम्? अत्रोच्यते—

२. ज्ञानं बन्धः।

अहं चैत्रो घटादिकमिदं वेद्मीत्यादिरूपं संकुचितं भेदनिष्ठं विकल्पात्मकं ज्ञानं तावदात्मन आवरण-रूपतया स्वात्मपरमेश्वरता-साक्षात्कारप्रतिबन्धकत्वाद् बन्धः। आत्मसाक्षात्कारो हि सर्वथा विकल्पशून्यः। ततो यद् यद् भेदमयं विकल्पात्मकं ज्ञानं तत् सर्वं बन्ध एव। एष विकल्पनव्यापारकृतो ज्ञानसङ्कोच एव मलः। ततः सर्वत्र स्वात्मपरमेश्वरस्य परमेश्वरतायां स्वेन प्रकाशेन प्रकाशमानायामेव तल्लीलावभासितमायावरणकृततिरोधानवशान्न तस्यास्तथानुभवो भवति जनानाम्। तदीदृशं तस्याज्ञानं जनानां बन्धः।

अत्र सूत्र-द्वयस्याविच्छेदने पाठे "चैतन्यमात्माऽज्ञानं बन्धः" इति सवर्णदीर्धतायाम् "अज्ञानं बन्धः" इति पाठः। तत्-पक्षे मायावरण-जनितस्वस्वभाव-तिरोधान-स्वरूपमाणवं मलं मूलतो बन्धः इति तात्पर्यम्। एष चाज्ञानात्मको बन्धोऽपि वस्तुतः पारमेश्वरेच्छा-विलासाभासितत्वेन मूलतः परमेश्वरात्मक एव सन् बन्धतयावभासते प्रतिबिम्ब कल्पतयेति वेदितव्यम्, न चैतेन विवर्तवाद-शङ्कोत्थापनीया। बन्धनलीलाकारणादेवास्मात् स्वात्मनः स्वातन्त्र्यात्मकं चैतन्यं सर्वस्य न प्रकाशते।

ज्ञानसङ्कोच ही बन्धन है। अपने आप को सीमित और अल्पशक्ति ज्ञाता तथा कर्ता

समझना ही मूलतः बन्धन है। उस मूलबन्धन के आधार पर ठहरा हुआ सारा व्यावहारिक मायामय विकल्पात्मक सीमित ज्ञान भी बन्धन है। आत्मा असीम है, परिपूर्ण है, स्वतंत्र है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है और पूर्ण तथा शुद्ध संवित् है, परन्तु अपनी ही पारमेश्वरी लीला के विलास से अपने आप को इन बातों से सर्वथा उल्टा समझने लग जाता है। यही इसका ज्ञान-सङ्कोच है, जिसे व्यवहार में बन्धन कहा और माना जाता है। वह भी वस्तुतः अपने स्वातन्त्र्य से ही कल्पित है। यह कल्पित बन्धन भी आत्मा के परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति के ही द्वारा उसके वास्तविक शिवात्मक स्वरूप के चमक उठने से ही ज्ञान सङ्कोच के नष्ट हो जाने पर सदा के लिए नष्ट हो जाता है। इस तरह से बन्धन और उसका विनाश दोनों आत्मदेव की लीलाएं हैं। इस लीला के पूर्वभाग में ज्ञानसङ्कोच रूपी बन्धन के आभासित होने से आत्मा का परिपूर्ण स्वातन्त्र्य चमकने नहीं पाता है। तभी ज्ञान सङ्कोच बन्धन बनता है।

३. योनिवर्गः कलाशरीरम्।

१. साङ्केतिकशब्दानुवेधस्तावद्विकल्पोद्दलको, येन विशिष्टं ज्ञानं विकल्पज्ञानं भवति। तस्य च शब्दानुवेधस्य कारणं नानाद्यविद्या, न चापि वासनादि किमपि व्यतिरिक्तमात्मनः सकाशात् तदुपाधिरूपं तत्त्वम्। अपि तु परमेश्वरस्वरूपस्यात्मनः पारमेश्वरी शक्तिरेव। सा च शक्तिरम्बेति समाख्याता सती ज्येष्ठा-रौद्री-वामा-नामकरूपत्रयेणावभासमाना क्रमेण मोक्षमार्गे प्रवर्तनं, संसारे सुखसङ्गतः संस्थापनम्, अधोऽधश्चाज्ञानान्धकारगह्वरेषु प्रक्षेपणं प्रमातॄणां कुर्वती सर्वमेतं प्रपञ्चं सञ्चालयति। ता एता अम्बाद्याश्चतस्रः शक्तयो योनय इति परिभाषिता आगमेषु। ज्येष्ठाद्यास्तिस्रः क्रमेण अघोर-घोर-घोरतराख्यशक्तिव्रातरूपेण तिष्ठन्त्यः सर्वस्मिन्नपि जगति प्रतिजीवं बन्धमोक्षादिव्यवहारजातं सञ्चालयन्त्यः सर्वप्रकारकां पारमेश्वरीं लीलां निभालयन्ति। तदित्थं ज्येष्ठादीनां योनीनामघोराद्याः शक्तिव्राताः वर्गा इत्युक्ताः सूत्रे। ते शक्तिवर्गाः एव अकारादिक्षकारान्तवर्णरूपतया स्थिताः सन्तः कलाः इत्युच्यन्ते आगमेषु। मातरः शक्तयो, देव्यो, रश्मयः इत्यादीन्यपि शक्तीनां तासामागमिकानि नामान्तराणि। ताः एव शब्दानुवेधेन विकल्पज्ञानोद्भासिकाः सत्यः पशूनां बन्धत्वेन सम्मतमज्ञानमवभासयन्ति प्रतिबिम्ब-कल्पतयैव, न तु परिणामनीत्या। पशवस्तासां शक्तीनां भोग्यतामापद्यन्ते। पतयः पुनस्ताः स्वस्यैव शक्तय इमाः इति पश्यन्तस्तासां भोक्तारः सन्तो मोक्षलक्ष्मीरसास्वादतत्परास्तिष्ठन्ति।

२. कलादीनि तत्त्वानि माया-कार्यत्वेन योनिवर्गः इति। कला तावत् कार्मस्य मलस्य शरीरम्। ततः कला शरीरं यस्य तत् कार्मं मलं कलाशरीरम्। उभयमप्येतद् योनिवर्गः

कलाशरीरं च बन्ध इत्यनुवर्तते। कलायाः कलनं च क्षेपः स च स्वात्मनो भेदनं, ततो भेदितस्याविकल्पमवभासनं ज्ञानं, संख्यानं वा, ततो विकल्पनं, ततश्च जानाम्येतदहमिति स्वात्मन्यारोपेण विमर्शनम्, ततः स्वात्ममात्र परामर्शैकशेषतायां नाद इति वदन्ति। एतच्च पञ्चकम्–

क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात्। (तं.आ. ४-७३)

इत्येवं प्रतिपादितं तन्त्रालोके। तदत्र योनिवर्ग एव क्षेपादिकलनात्मतयावभासत इति तात्पर्यम्।

१. समस्त प्रपञ्च के सृष्टि संहार आदि का मूलकारण पारमेश्वरी पराशक्ति है। उसे शैव दर्शन में इस दृष्टि से अम्बा कहा जाता है। वह तीन रूपों में प्रकट हुआ करती है जिन्हें वामा, रौद्री और ज्येष्ठा कहते हैं। वामा संसार और संसृति का वमन करती है, अर्थात् प्राणियों को अधिक अधिक अज्ञान की ओर धकेलती हुई उन्हें संसृति के चक्र के गहरे से गहरे गर्त्तों में डुबो देती है। रौद्री धार्मिक काम्य कर्मों में प्रेरित करती हुई उनके जीवन को सुखमय बनाती है, परन्तु उन्हें सुख के संग में ही फंसाए रखती है, संसार में ही टिकाए रखती है और मुक्त होने नहीं देती। ज्येष्ठा जीवों को मोक्ष प्राप्ति के प्रति प्रेरणा देती है।

ये तीन पारमेश्वरी शक्तियां समूहात्मक रूपों में प्रकट होकर एक एक जीव के साथ सदा लगी ही रहती हैं। ज्येष्ठा अघोर नामक शक्तिवर्ग के रूप में प्रकट होती हुई एक एक प्राणी को मोक्ष की ओर प्रेरणा करती रहती है। रौद्री के व्यूह की शक्तियों को घोर शक्तियां कहते हैं जो एक एक प्राणी को संसार में टिकाए ही रखती हैं। वामा के व्यूह में घोरतर शक्तियां होती हैं जो प्राणियों को बन्धन की ओर ही धकेलती रहती हैं। ऐसी व्याख्या वसुगुप्त की परम्परा के सातवें गुरु ने उपदेश के क्रम से प्राप्त तात्पर्य को दृष्टि में रखते हुए की है। इस तात्पर्य को इस तरह से और स्पष्ट किया जा सकता है–

सांसारिक विकल्पज्ञान, बन्धन का एक विकसित स्वरूप है, जिसे दार्शनिक परिभाषा में विक्षेप भी कहा गया है। "मैं अमुक नाम वाला व्यक्ति हूं, केवल अमुक अमुक वस्तुओं को जान सकता हूं, अमुक अमुक क्रियाओं को कर सकता हूं। ये सभी कार्य और ज्ञेय पदार्थ तथा सारा जगत मुझसे भिन्न है, मेरा प्रमेय है और मैं इसका प्रमाता हूं" इस इस प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान तथा ऐसे ऐसे विश्वास प्रायः समस्त मायीय जीवों के स्वभाव बन गए हैं। वही उनका बन्धन है। उस विकल्प ज्ञान का आकार शब्दों के माध्यम से प्रकट हो जाता है। शब्द वर्णों से बनते हैं। तो परमेश्वर के उपरोक्त

शक्तिसमूह वर्णात्मक रूपों में प्रकट होकर ही प्राणियों को शाब्दी कल्पनाओं के घेरे से घेर कर रखते हैं। जो प्राणी योग के अभ्यास से इन शक्तियों के वास्तविक तत्त्व को जान लेते हैं, उन्हें ये ही पारमेश्वरी शक्तियां स्वरूप का साक्षात्कार कराती रहती हैं। जो इनके वास्तविक तत्त्व को नहीं समझते, उन्हें ये ही बन्धन में उलझाए रखती हैं।

इन शक्तियों को ही सूत्र में योनिवर्ग कहा गया है और ये ही प्राणियों की कला का शरीर बनती हैं। कला से तात्पर्य है कलातत्त्व और उससे आगे उत्पन्न होने वाले सभी कञ्चुक और मायीय तत्त्व आदि जो प्राणी के लिए शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि बनकर उसे घेर कर ही रखते हैं।

उपरोक्त तात्पर्य व्याख्या वसुगुप्त की शिष्य परम्परा के भीतर प्रचलित थी। आगे क्षेमराज ने अपने बुद्धिबल से और शास्त्रज्ञान के बल से जो अन्य प्रकार की व्याख्या की वह यह है–

२. कला आदि तत्त्वों की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान माया तत्त्व है। अतः वे सभी तत्त्व माया रूप योनि के कार्य होने से योनिवर्ग हैं। कला कार्ममल का शरीर है। अतः कार्म मल को कला शरीर कहा गया है। ये दोनों ही बन्धन हैं। "बन्धः" शब्द की अनुवृत्ति इन दो पदों में भी है। सृष्टि संहार आदि कला की कलनाओं के फल हैं। तो योनिवर्ग ही क्षेप, ज्ञान, विकल्पन अपने पर आरोपण और अपने में लय, इन पांच कलनाओं के रूप में प्रकट हुआ करता है। क्षेप होता है भेदभाव से प्रकट करना और ज्ञान है निर्विकल्प प्रकाशन। आरोपण "मैं जानता हूं" इस प्रकार का विमर्श है और लय "अहं" पर ही विश्रान्ति है।

बन्धनात्मकस्य विकल्पज्ञानस्य किं मूलकारणमिति प्रतिपादयितुमुच्यते–

४. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका।

अज्ञानात्मकस्य विकल्पज्ञानस्य तदुपोद्बलकानां च पूर्वोक्तानां कलानामधिष्ठानम् - आधारः मातृका - पारमेश्वरी परा निर्माणशक्तिः। सैव ज्ञाता सती मोक्षरूपस्य ज्ञानस्याधिष्ठानम्, अज्ञाता च सत्यशुद्धविकल्पात्मकस्य बन्धरूपस्य ज्ञानस्याधिष्ठानम्। विकासमुपयाता प्रसृता चासौ भगवती मातृका अकारादि-क्षकारपर्यन्तं वर्णमालात्मकतयावभासते। ते च वर्णाः शिवस्य शक्तीनां प्रतिबिम्बात्मका आभासाः सन्तस्तथैव भान्ति शाम्भवयोग निष्ठानां प्रबुद्धानां योगिनाम्। अकारादि-क्षकारान्त-मातृका-वर्णविमृष्टं निखिलं तत्त्वजातं तेषां स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं सत् तथैवाविकल्पतयैव साक्षाद्भाति विमृश्यते च तथाविकल्पमेव।

तत एतस्य समुत्कृष्टतरस्य मोक्षात्मकस्य ज्ञानस्याधिष्ठानम् - आश्रयतयालम्बनतया चोपात्तं वस्तु मातृका। त एव च वर्णाः साङ्केतिक शब्दात्मकतयाऽवस्थिताः सन्तो बन्धात्मकस्य भेदनिष्ठस्य विकल्पज्ञानस्य मूलकारणम्। ततो मातृकैव देवी तस्याप्यधिष्ठानम्। इयं वर्णमालात्मिका मातृकापि वस्तुतः पारमेश्वरी शक्तिरेव तथा भाति प्रबुद्धानां योगिनाम्।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—परिमित विकल्पात्मक ज्ञान बन्धनरूप होता है और अपरिमित स्वात्मज्ञान मोक्ष होता है। वह अपरिमित स्वात्म-ज्ञान शाम्भव योग के अभ्यासियों को अ से लेकर क्ष तक की वर्णमाला के द्वारा होता है। इस वर्णमाला को मातृका कहते हैं। शिवयोगी मातृका के योग के अभ्यास से अ से अः तक के सोलह स्वरों के रूप में अपनी परमेश्वरता के सोलह पहलुओं का अविकल्पतया साक्षात्कार करता है। वैसा करता हुआ ही वह क से क्ष तक के व्यञ्जनों के रूप में अपनी पारमेश्वरी शक्तियों के ही बहिर्मुख प्रतिबिम्बों को देखता है, जो उसकी ज्ञानदृष्टि के सामने पृथ्वी तत्त्व से लेकर शक्तितत्त्व तक के रूपों में अविकल्पभाव से ही चमक उठते हैं। इस तरह से वह मातृकायोग के द्वारा अपने आप को विश्व-प्रतिबिम्बों से रंगा हुआ साक्षात् जान लेता हुआ कृतकृत्य हो जाता है।

ये अकारादि वर्ण ही माया की भूमिका में व्यावहारिक शब्दों के रूपों को अनन्त प्रकार से धारण करके मायीय जीवों के व्यावहारिक ज्ञान के अभिन्न अंग बनकर उनके बन्धनस्वरूप विकल्पज्ञान के साधन बनते हैं। इस तरह से ये ही बन्धनात्मक व्यावहारिक विकल्पज्ञान के अधिष्ठान बनते हैं। आत्मा से बाह्य कोई भी अविद्या, वासना आदि वस्तु उसका अधिष्ठान नहीं बनती है। तो यह बन्धन भी परमेश्वर की ही लीला का एक अंग है। तो मातृका के ऐसे वास्तविक तत्त्व को जानने और न जानने वाले प्राणियों के लिए एकमात्र वही मोक्षात्मक परिपूर्ण ज्ञान का और बन्धनात्मक अपरिपूर्ण ज्ञान का अधिष्ठान बनती है।

इस आवरणरूप अज्ञान को हटाने के साधन का निरूपण अगले सूत्र से किया जा रहा है। —

५. उद्यमो भैरवः।

अनेन सूत्रेण परमेश्वरत एव विश्वसृष्टिर्नाविद्यादित इति दर्शनसिद्धान्तः, अज्ञानात्मकबन्ध-निरसनोपायश्चापि सममेव प्रतिपाद्येते। अनेकार्थकत्वमनेक- प्रयोजनत्वमपि हि सूत्रस्य सूत्रत्वमेव। तत्र स्वशक्तेर्बहिरुन्मेषणरूपकः इच्छाशक्ति प्रयोगात्मकः परमेश्वरस्य स्वभाव

भूतो य उद्यमः पूर्वोक्तस्य बन्धस्य, तत्कारणभूतानां च अकारादिवर्णकलानां समुन्मेषस्य कारणम्, असौ भैरवो—जगद्भरणकारी, जगद्वमनकारी, जगल्लीलया च स्वयं रमणकारी परमेश्वर एव। ततो बन्धावभासेऽपि भैरवात्मिका तस्य परमेश्वरताऽखण्डितैव वस्तुतः। किञ्च स्वयं भैरव एव बन्धात्मकतया स्वेच्छयाऽऽभासमानः सँस्तन्मूल-कारणतया स्थितो, न पुनरविद्यावासनादिकं ततो भिन्नं किमप्यपरं तत्त्वम्। इत्थं जगद्रूपतयावभासमानत्वं परमेश्वरस्य परमेश्वरताया अभिव्यक्तेरेकं रूपम्। अपरञ्च तद्रूपमग्रिमेण सूत्रेण निरूपयिष्यते। एतच्च शिवपक्षीयं व्याख्यानं सूत्रस्य।

अथ साधकपक्षीयम्—बन्धरूपस्याज्ञानस्य विलापनकारी साधनोपायश्चासावुद्यमो यो भैरवाकार शिवात्मक एव। स च दृढतरेच्छा शक्ति प्रयोगात्मकः शाम्भवोपायः। "अहं सर्वथा परिपूर्णः शिव एवास्मि। किं मम शिवताभिव्यञ्जकैरुपायजालैः" इति दृढतरं सविश्वासं विमृशन् साधको निरुपायमेव स्वात्मनः शिवतां साक्षात् कुरुते। एवं विधो य उद्यमः स एव भरणाद्रमणाच्च भैरवः। परिपक्वतां प्राप्त इच्छोपाय एवायमनुपायः इत्युक्तं तन्त्रसारे। तदिच्छा-शक्त्युन्मेषाभ्यासदशायां यः शाम्भवोपाय इत्युच्यते स एव तदुन्मेषाभ्यासं विनैव स्वरूपं प्रथयन्ननुपाय इति। शाम्भवे उद्यमतः क्षणे क्षणे नवं नवं स्वरूपप्रथनमपूर्वमिव भवति। ततः सततचमत्कारात्मकाह्लादमयी पारमैश्वर्यचर्वणात्मिका स्वानुभूतिर्विजृम्भते। क्षणं क्षणं स्वस्वरुपोन्मेषात्मकेनोद्यमेन भैरवभावसमावेशपरम्परा। तत एवासौ भैरव इति।

परमेश्वर ही अपनी परमेश्वरता के बहिर्मुख उन्मेष से जगत् की सृष्टि करता हुआ उसका वमन करता है, जगत को ठहराता हुआ उसका भरण करता है और सृष्टि संहार आदि की क्रीडा के द्वारा अपनी पारमेश्वरी शक्ति के साथ तथा उसी के बहिर्मुखी विकास रूप इस जगत के साथ भी सदा रमण करता रहता है। अतः वह भरण, रमण और वमन करता हुआ भैरव कहलाता है। पारमेश्वरी इच्छा शक्ति के ऐसे उन्मेष को यहां उद्यम कहा गया है।

बन्धनरूपी अशुद्ध विकल्पज्ञान को झट से उड़ा देने वाला जो शाम्भवोपाय रूप इच्छाशक्ति का तीव्र प्रयोग होता है, उसे भी उद्यम कहते हैं। उस उद्यम से साधक को झट से अपने परिपूर्ण शिवभाव का साक्षात्कार स्वयमेव चमक उठता है। अतः वह उद्यम भी भैरव कहलाता है, क्योंकि साधक की भैरवता को चमका देता है। ऐसे उद्यम को शाम्भवोपाय, शाम्भवयोग, इच्छोपाय, इच्छायोग आदि कई एक नाम दिए गए हैं। इस तरह से परमेश्वर का बहिर्मुख उन्मेष भी भैरव है और साधक के द्वारा स्वरूप-स्थिति के प्रति किया गया इच्छाशक्ति का प्रयोग भी भैरव है।

अगले सूत्र के द्वारा स्वस्वरूप में प्रवेश की युक्ति पर प्रकाश डाला जा रहा है–

६. शक्तिचक्रसन्धाने विश्वसंहारः।

परभैरवस्य यच्छक्तिचक्रं तस्योन्मेषतो बहिर्मुखीभावेन विश्वस्योदयः, तस्यैव च स्वात्मसात् करणात्मकेन निमेषेण जगतो लयः। ततोऽस्यं जगतो लयकार्यपि स्वयं परमेश्वर एवेति दर्शनसिद्धान्त पक्षे व्याख्या।

अथ स्वशिवत्वसमावेशोपायाभ्यास पक्षे व्याख्या–सर्वं खलु जगच्छिव-शक्त्यात्मकमेव। तेन सर्वत्र स्वशक्तीनामेवाभिव्यक्तिं पश्यन् योगी विश्वमपि स्वात्मसात्कुर्वन् शाक्तेनोपायेन शाम्भवं स्वं स्वरूपं प्रविशँस्समावेशभाग् भवति। तेन सर्वत्र स्वशक्तीनामेवानुसन्धाने सति साधकस्य विश्वसंहारो भवति, विश्वस्य स्वात्मना साकमेकीभावो भवतीति।

जब परमेश्वर अपने शक्तिचक्र को अपने में ही समेट लेते हैं तो जगत् का संहार हो जाता है। शक्तियों के बहिर्मुखतया प्रतिबिम्बित होने से ही सृष्टि होती है और अन्तर्मुखतया भीतर समा जाने से ही संहार होता है।

सन्धान शब्द का अर्थ अनुसन्धान भी होता है। जब शिवयोगी जगत के विषय में यह अनुसन्धान करता है कि यह तो मेरी अपनी ही शक्तियों का बहिर्मुख प्रसार है, यह मुझ में ही प्रतिबिम्बित हो रहा है और मुझसे अभिन्न है, तो उससे वह समस्त प्रपंच को अपना आप ही समझता हुआ उसे अपने शिवस्वरूप के भीतर ही समा लेता है। इस तरह से जगत् का स्वरूप के भीतर समा जाना भी विश्वसंहार कहलाता है। यह उसके पूर्वोक्त उद्यम रूपी शाम्भवयोग का एक विशिष्ट फल है।

इस सूत्र के द्वारा भी एक ओर से दर्शनसिद्धान्त को बताया गया है और दूसरी ओर से विशिष्ट शाम्भवी साधना पर प्रकाश डाला गया है।

अगले सूत्र के द्वारा यह बताया जा रहा है कि शाम्भवयोग के अभ्यासी को जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में भी स्वरूप का साक्षात्कार होता ही रहता है–

७. जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त-भेदे तुर्याभोगसंवित्।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त-भेदे तुर्याभोग सम्भवः (इति पाठान्तरम्)।

भैरवात्मकस्योद्यमस्याभ्यासशाली यः शिवयोगी तस्य स्वं स्वरूपं सदा चिद्विमर्शमहिम्ना परिस्पन्दमानं साक्षात् प्रख्याति। तदेव सर्वत्र प्रकाशते, तस्मिन्नेव च सर्वं प्रतिबिम्बकल्पतया

तस्यैव स्पन्दस्वभावतः प्रकाशते। तस्मिन् सततं तथा प्रकाशमाने सति जाग्रदाद्यासु परस्परं भिन्नासु दशासु प्रवर्तमानास्वपि, तदुचिते च व्यवहारजाते प्रचलत्यपि तुर्याभोगसंवित् साक्षात् स्वानुभवपदवीमुपयान्त्येव प्रवहति। न खलु जाग्रदादिव्यवहारस्तस्या आवरकतामुपयाति, स्वरूपस्पन्दपरिस्फुरण-माहात्म्यात्। परिपूर्णशुद्धचैतन्यघनता-विमर्शसन्ततिरेवतुर्या-भोगः—तुर्यचेतनाया विस्तारस्तस्य संवित्-साक्षात् संवित्तिः। असौ संविदेव सर्वं जग्रदादिप्रपञ्चं प्रकाशयन्ती तत् सर्वं व्याप्य तिष्ठति। तदन्तरेव च सर्वोऽयं प्रपञ्चो दर्पणनगरवदवभास-मानस्तिष्ठति। ततः सर्वत्र तस्या यासौ व्याप्तिः सैवाभोग इति। तस्याभोगस्य संवित्तिभवतीति शेषः। भवति च शिवयोगिनः उद्यमात्मकशाम्भवोपायसाफल्यभाज इति प्रकरणतोऽवगम्यते। तदसौ योगी सर्वमपि जाग्रदादिप्रपञ्चं साक्षात् स्वात्मरूपमेव पश्यन् कृतकृत्यतामनुभवति।

"तुर्याभोग सम्भवः" इत्येवंविधेऽर्वाचीनानामभिमते पाठे जाग्रदादिप्रपञ्चे प्रचलत्यपि योगिनस्तुर्यात्मकस्वस्वरूपव्याप्तिः सर्वत्र तेन साक्षात् सञ्चेत्यते, येनासौ व्युत्थानेऽपि सततं समाविष्ट एव तिष्ठन् परां कृतकृत्यतां रसयति। फलमेतत् स्वरूपस्पन्दपरामर्शस्य।

उद्यमात्मक शाम्भव योग का एक और विशिष्ट फल यह होता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के परस्पर भिन्न भिन्न होने पर भी और उनके असंख्य व्यवहारों के लगातार चलते रहने पर भी शाम्भव योगी को ऐसा साक्षात्कार होता ही रहता है जिसमें तुर्या दशा के आस्वाद का चमत्कार छिप नहीं जाता है, लगातार चलता ही रहता है। जाग्रत् आदि के व्यवहारों से उसमें कोई भी बाधा नहीं आती। ऐसी स्थिति को काश्मीर शैव दर्शन में निर्व्युत्थान समाधि कहते हैं, जिसका अभ्यास सावधान योगी को चौबीसों घण्टे चलता ही रहता है। उद्यम के द्वारा चित्प्रकाश के चमक उठने का यह एक विशिष्ट फल होता है।

अगले तीन सूत्रों के द्वारा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है—

८. ज्ञानं जाग्रत्।

उभयेन्द्रियकरणस्य बाह्यान्तर्विषयोन्मुखस्य ज्ञानस्य तथाविधायाश्च क्रियायाः व्यवहाराणां या स्थितिरसौ जाग्रत्। जाग्रति प्रमाता बाह्यैरिन्द्रियैर्विषयान् गृह्णाति, अन्तः करणैश्च तान् विवेचयति, एतस्यां जाग्रद्दशायां प्रमातुः सकाशात् प्रायशो भिन्नत्वेनैवावभासमानानां विषयाणां ज्ञानं तस्य जायते। तथैव च क्रियापि। प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृमयस्य भेदात्मकस्य त्रिकोणस्य सुस्फुटा अत्र स्थितिः प्रभावश्चापि। एषा स्थितिस्तावत् पशुप्रमातृविषया। पतिः प्रमाता त्रितयमप्येतत् स्वात्मतया पश्यन् समावेशभागेव भवति। पशुः पुनः सर्वं भिन्नमेव

पश्यन् भेददृष्ट्या कदर्थ्यते। यतोऽसौ स्थूलज्ञानज्ञेयोपरक्तस्तिष्ठति।

प्राणी की उस परिस्थिति को जाग्रत् दशा कहते हैं जिसमें उसे बाह्य और आन्तर दोनों ही प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान हुआ करता है। इसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय में परस्पर भेद बना रहता है। पति प्रमाता अपरिमित होता हुआ और उन तीनों में अपने आप को ही देखता हुआ, आनन्द के चमत्कार का आस्वाद लेता है, परन्तु पशु प्रमाता संकोच का पात्र बना होने के कारण इन तीनों को ही तथा अन्य प्रत्येक वस्तु को भी भेददृष्टि से ही देखता हुआ बन्धन की परेशानियों में उलझा रहता है। तो जाग्रत् अवस्था पशु के लिए घोर बन्धन है, परन्तु पति के लिए यह भी मोक्ष ही है क्योंकि वह जाग्रत् अवस्था में भी सर्वत्र अपने आप को ही देखता हुआ आनन्द लेता रहता है। उसकी जाग्रत् अवस्था वस्तुतः तुर्या की ही एक अवान्तर अवस्था होती है।

९. स्वप्नो विकल्पाः।

विविधाः कल्पाः—कल्पना जन्या आभासाः विकल्पाः। नामरूपकल्पनामात्रजन्ये ये स्वतो भिन्नानां विषयाणामभिमुखे मायाप्रमातुर्ज्ञानक्रिये तयोर्व्यवहारस्यावस्था स्वप्नदशा। अस्यां दशायां विविधां सृष्टिं स्वकल्पनामात्रसमुद्भावितां पश्यन् प्रमाता तद्विषये ज्ञानक्रियाव्यवहारभाग् भवति। पशोरेषा स्वप्नसृष्टिः वैयक्तिकत्वेनासाधारणी, क्षणिका, सपदि च नश्वरा। पत्युः पुनः पारमेश्वरीवासौ सृष्टिश्चिरस्थायिनी, स्थिरा, सर्वजनसाधारणी च। पशुरत्र सूक्ष्मविषयकज्ञानज्ञेयोपरक्तो भवति।

केवल मानसिक कल्पना के ही द्वारा विषयों के ज्ञान और क्रिया के होते रहने की अवस्था को स्वप्न-अवस्था कहते हैं। जीव के स्वप्न में जो पदार्थ-सृष्टि होती है, वह व्यक्तिगत्, अत्यन्त अस्थिर, और नश्वर होती है। परन्तु पति प्रमाता यदि सङ्कल्पमात्र से भी किसी विषय की सृष्टि करे, तो वह सृष्टि ईश्वर कृत सृष्टि की तरह स्थिर और सर्वसाधारण होती है। पति की स्वप्न अवस्था वस्तुतः तुर्या की ही एक अवान्तर अवस्था अर्थात् तुर्यस्वप्न की अवस्था होती है।

१०. अविवेको माया सौषुप्तम्।

विलीन-प्रमाण-प्रमेय-प्रपञ्चा, ततस्तद्विवेकशून्या सङ्कोच-शालि-मायीय-प्रमात्रैक-प्रकाशमयी या दशा सा तु सौषुप्तम्—सुषुप्तस्य भावः सुषुप्तता, सुषुप्तिदशेति। अत्रदशायामात्मनश्चिदात्मकताया अपि विवेकस्य न स्फुट आभासः। तत एवाज्ञानरूपिणी खल्वियं दशाऽऽत्मनः स्वरूपस्यावरणात्मिका सती मायेति कथिता सूत्रे। तेन मायावरण-

मात्रप्रधाना, चिद्रूपतायाः विवेकेन शून्या, प्रलीन-ज्ञान-ज्ञेय-प्रपञ्चा दशा सुषुप्तिः। पतिः प्रमाता सुषुप्तावपि स्वात्मस्वरूप विश्रान्त्यानन्दभाग्भवति। येनोक्तमुपनिषदि–"स्वं ह्यपीतो भवति" इति। पशुः पुनर्मायावरणावृतः शून्यताख्यां स्थितिं भजते। ततः पतिरनवच्छिन्नशुद्धसंविन्मयः, पशुः पुनः सङ्कुचितचिन्मयो भवति सुषुप्तौ। चतस्रोऽप्येता जाग्रदाद्या दशा बहुतरावान्तरभेदभिन्ना भवन्ति। मुख्यास्तावदेतासां चत्वारश्चत्वारो भेदाः; तद्यथा–जाग्रज्जाग्रत्, जाग्रत्स्वप्नः, जाग्रत-सषुप्तिः, जाग्रत्तुर्येति। एवमेव स्वप्नसुषुप्ति-तुर्याणामपि भेदा ऊह्याः। एष एव हि सिद्धजनसिद्धान्तः, चेत् केचन शास्त्रकृतः तुर्याया भेदं नैवं स्वीकुर्वन्ति।

जिस अवस्था में न कोई प्रमाण ही होता है, न कोई प्रमेय ही होता है और न कोई ज्ञेय या कार्य विषय ही कहीं होता है और जहां आत्मा की शुद्ध चिद्रूपता का भी कोई स्फुट विमर्शन नहीं होता है, उस दशा को सुषुप्ति कहते हैं। यह एक विवेकशून्य दशा होती है। इसमें आत्मस्वरूप माया के आवरण से ढका रहता है। एकमात्र शून्य-प्राय संकुचित प्रमाता ही इसमें चमकता है और वह भी अस्फुटतया। पशु की सुषुप्ति का यही स्वरूप होता है। परन्तु पति को सुषुप्ति में भी असङ्कुचित चित्स्वरूप का चमत्कार बना ही रहता है। उसकी वह सुषुप्ति तुर्या की सुषुप्ति होती है, जिसे तुर्य-सुषुप्ति कहते हैं। यदि तुर्या को इन तीन के साथ मिश्रित न किया जाए, तो ये तीनों बन्धनात्मक अवस्थाएं तीन तीन ही प्रकार की बनती हैं। वस्तुतः ऐसा संश्लेषण और विश्लेषण केवल समझाने के लिए किया जाता है। अतः शास्त्रकार अपनी अपनी दृष्टि से ऐसा करते आए हैं। तो इन बातों में परस्पर विरोध की शङ्का नहीं की जानी चाहिए।

सुप्रबुद्ध शिवयोगी की दृष्टि जाग्रत् आदि तीनों के प्रपञ्च को किस भाव से देखती है, इस बात को अगले सूत्र के द्वारा कहा जा रहा है।

११. त्रितयभोक्ता वीरेशः।

शक्तिचक्रानुसन्धानयुक्त्या सर्वमपि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-प्रपञ्चं स्वशक्तिवैभवतया विगलितभेदं तुर्यानन्दरसप्रवाहाच्छुरितं पश्यन् सुप्रबुद्धो योगी त्रितयस्य चमत्कर्ता सन् भवभेदग्रसनसमर्थानां वीराणामिन्द्रियदेवतानामीशः-स्वामी भवति। यस्त्वेवं नैव पश्यति स जाग्रदाद्यधिष्ठात्रीभिर्देवीभिर्भुज्यमानः सन् पशुः। वीरस्तु प्रचलत्स्वपि दशात्रितयव्यवहारेषु स्वस्वरूपच्युतिरहितः सन् त्रितयस्यापि स्वातन्त्र्येण चमत्कर्ता भवति। अनेन वीरस्य योगिनो व्युत्थानेऽपि निजे स्वरूपे एव स्थितिः प्रतिपादिता। प्रागुक्तादुद्यमादभिव्यक्तस्य चित्प्रकाशस्य फलमेतदुक्तं शम्भुना।

पशु प्रमाता तो पराधीन होता हुआ जाग्रत् आदि तीन दशाओं का सञ्चालन करने

वाली शक्तियों के लिए भोग्य बनता रहता है, क्योंकि वह उसे इन दशाओं के व्यवहारों में नचाया करती हैं; परन्तु वीर साधक तीनों ही का उपभोक्ता बना रहता है; क्योंकि वह तीनों ही दशाओं के समस्त व्यवहारों में अपने ही तुर्य-रस के चमत्कार का आस्वाद लेता रहता है, वे व्यवहार उसे अपने तुर्यात्मक आनन्दमय स्वरूप की स्वतन्त्र लीलाओं के रूप में दिखाई पड़ते हैं। अतः उसे स्वरूप-आनन्द से च्युत न करते हुए उसके उस आनन्द को स्फुटतया चमकाते रहते हैं। तभी तो वह वीरेश्वर कहलाता है। उसकी ऐसी वीरेश्वरता उसके पूर्वोक्त उद्यम के द्वारा चमक उठने वाले चित्प्रकाश की महिमा से स्वयमेव उद्बुद्ध हो जाती है। आगे भी अनेकों सूत्रों के द्वारा चित्प्रकाश से उद्बुद्ध होने वाली आध्यात्मिक अनुभूतियों के फल का ही निरूपण किया जा रहा है। तभी तो भट्टभास्कर ने वसुगुप्त से प्रचलित उपदेश परम्परा के अनुसार शिवसूत्र के इस प्रथमखण्ड का नाम ही "चित्प्रकाशनिरूपण" रखा है।

१२. विस्मयो योगभूमिकाः।

सत्य तत्त्वाधिरोहप्रत्यासन्नेषु तुर्यात्मकेष्ववान्तरेष्ववस्थान्तरेषु स्थितस्य वीरेश्वरस्य तदवस्थोर्ध्ववर्तिन्यां च तुर्यातीतभूमौ किञ्चित् किञ्चिल्लक्ष्यमाणायां सत्यां यास्तस्याः अचिरद्युतिकल्पैः क्षणदृष्टनष्टैर्दर्शनैस्तस्य योगिनः आश्चर्यमाणतास्ता एव सूत्रे विस्मय-पदेनोक्ताः। ताः एताः स्वात्मन्यपरितृप्तत्वोनोदीयमानाः आश्चर्यमाणता एव परतत्त्वैक्य-प्रथनात्मकस्य योगस्य भूमिकाः भवन्ति। तदैक्यमेव यतो योगः। तदुक्तं मालिनीविजयोत्तरे—'योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना।' इति (मा.वि.तं. ४-४)। तासूदीयमानासु कन्दबिन्द्वर्धचन्द्राद्यनुभववृत्तयः स्वयमेवाभिव्यज्यन्ते ज्ञान-क्रिया-योगयोरभ्यासेन विनापि वीरेश्वरस्य चित्प्रकाशोद्दीप्तिमहिम्ना। ततोऽस्यासौ शाम्भवो योगः स्वत एव सर्वाङ्गपरिपूर्णः। ता योगभूमिकास्तस्य परतत्त्वैक्याध्यारोहे विश्रान्तिसूचिकाः भवन्ति। अथवा—कन्द-बिन्द्वर्धचन्द्रादिस्पर्शं विनापि ताः आश्चर्यमाणतास्तस्य परतत्त्वैक्या-धिरोहक्रमे भूमिका इव भवन्ति।

शाम्भवोपाय-रूपी भैरवात्मक उद्यम से उद्बुद्ध हुई तुर्या दशा की अवान्तर भूमिकाओं में तथा तुर्यातीत पद की क्षणिक अभिव्यक्तियों में योगी को प्रारम्भ में अपने चिदानन्दघन स्वरूप की जो बिजली की चमक की जैसी क्षणिक अनुभूतियां प्रायः होती रहती हैं, उनसे उसे भी विचित्र आश्चर्य सा होता रहता है। ऐसी आश्चर्यमयी अनुभूतियां उसके लिए योग की भूमिकाएं बनती हैं। परमशिव तत्त्व के साथ सर्वथा अभेद ही योग कहलाता है। तो यह अनुभूतियां उस ऐक्य की स्थिति पर उसे धीरे धीरे पहुंचा देती

हैं। इन अनुभूतियों के साथ ही साथ उसे सुषुम्ना के षट् चक्रों के बीच में से गतिशीलता का अनुभव भी अनायास ही होता रहता है। उसे इन बातों के लिए हठयोग या पातञ्जलयोग का अभ्यास करना ही नहीं पड़ता। ऐसी आश्चर्यमयी अनुभूतियों के क्रम से ही वह अन्ततोगत्वा सर्वथा परशिव के साथ अभेद भाव रूपी योग की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है।

१३. इच्छाशक्तिरुमा कुमारी ।

विश्वस्यापि स्वात्मसात् करणे समर्थस्य योगस्याभ्यासिनोऽस्य वीरेश्वरस्य या इच्छा सा उमा पारमेश्वरी पराशक्तिः। यथासावुमाऽनिरुद्धप्रभावा श्रीमदुमापतिनाथस्य शिवस्य सर्वकर्तृत्व सामर्थ्यमयी शक्तिस्तथा तस्य वीरेश्वरस्य योगिनोऽपीच्छा अनिरुद्धैव भवति, ज्ञाने क्रियायां च। परमेश्वर इव यदिच्छति तज्जानाति करोति च। इत्थमनिरुद्धेच्छाप्रसरः सन् शिवत्वं रसयत्यनेनैव देहेन। किञ्च तस्येच्छा कुमारी भवति। कुं कुत्सितां भेदप्रथां मारयतीति तच्छीला भवति। कुमारी च क्रीडनशीला। कुमार क्रीडायाम्। तेन स्वेच्छयैव लीलाविलासतोऽसौ वीरेश्वरः शिववत् सर्गसंहारादिक्रीडनशीलो भवति। कुमारी तावदभुक्ता भवति। तस्य योगिन इच्छापि नैव मातृकाभिर्भोक्तुं शक्यते, प्रत्युत तासामेव भोक्तृतया विजृम्भते। यथा चोमाकुमारी शिवार्चनतत्परैवातिष्ठदनवरतं तथास्य योगिन इच्छापि शिवाराधनपरैव तिष्ठति।

१. परमेश्वर की तरह शिवयोगी की इच्छा भी विना किसी निरोध के सदा सफल होती रहती है। अपनी इच्छा का ऐसा सफल प्रयोग उसके लिए एक खेल बन जाता है। खेल खेल में ही शिव की तरह अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि-संहार आदि करने में वह समर्थ बन जाता है। जैसे उमादेवी शिव की क्रीडा में उसका साथ देती है, वैसे ही शिवयोगी की इच्छा भी उसके ऐश्वर्य की लीलाओं को निभाने लगती है।

२. शिवयोगी की अपनी इच्छाशक्ति, कुत्सित भेदप्रथा को मार देती है और इस तरह से कु+मारी बनी रहती है।

३. उस शिवयोगी की इच्छा कभी भी मातृका देवियों के लिए भोग्या नहीं बनती है, कुमारी की तरह अभुक्ता ही बनी रहती है। शिव की अघोर आदि शक्तियां साधारण पशुप्रमाताओं को माया आदि में नचाती हुई उनका उपभोग करती रहती हैं, परन्तु शिवयोगी भैरवात्मक उद्यम के अभ्यास से जब अपने चित्-प्रकाश को चमका देता है तो वह अघोर आदि शक्तिसमूहों का भी स्वामी बन जाता है। वह तो उनके द्वारा

की जाती हुई लीलामयी क्रीडाओं का भोक्ता बन जाता है और इस तरह से न तो वह भोग्य बना रहता है और न ही उसकी इच्छाशक्ति।

४. भगवती उमादेवी की तरह शिवयोगी की इच्छा भी सदैव शिव समागम के लिए उत्सुक बनी हुई शिव की आराधना करती रहती है।

perceived objective world

१४. दृश्यं शरीरम् ।

अस्य शिवयोगिनो न केवलं निजमेव देह प्राणादिकं शरीरं, यावदखिलमपि प्रमेयजातं तस्य स्वं शरीरमेव। सर्वमसौ स्वशरीरतया पश्यन् भैरवात्मकं स्वात्मानं परिपूर्णं विमृशति "अहमेवेदं सर्वम्" इति सदाशिवोचितया दृशा। किञ्च देहप्राणधी-शून्यानि पशुभिः स्वशरीरतयाभिमन्यन्ते। अयं पुनः शिवयोगी लोकव्यवहारे तान्यपि घटादिप्रमेयकल्पानि दृश्यतयैव पश्यति नात्मतया। शरीरमपि तस्य दृश्यमेव प्रमेयमेव भवतीति। बहिर्व्यवहारं कुर्वन्नपि नान्तस्तत्त्वान् मनागपि विचलति। संविदमेव सदैवात्मतया संवेत्ति न देहप्राणादि।

१. सारे का सारे दृश्य विश्व ही उस शिवयोगी का अपना शरीर बन जाता है, जब वह उसे स्वशरीरवत् देखने लगता है कि "अहमिदम्", अर्थात् यह मैं ही हूं।

२. साधारण प्राणी अपने शरीर को या प्राण को या बुद्धि को या शून्य को भिन्न भिन्न अवस्थाओं में अपना आप समझते रहते हैं, परन्तु शिवयोगी इन शरीरों को भी दृश्य जगत ही की तरह देखता है, इन्हें अपना आप नहीं समझता। अपना आप केवल संवित् को ही समझता है। उसके लिए शरीर आदि दृश्य ही बने रहते हैं, द्रष्टा नहीं बनते।

१५. हृदये चित्तसंघट्टाद् दृश्यस्वापदर्शनम् ।

१. हृदयपदेन वस्तुत्रयं निर्देष्टुं शक्यम्। एकं स्थूलहृदयकमलान्तर्वर्ति दहराकाशाख्यं स्थानम्, अपरं नाडीचक्रानुचक्र-केन्द्रस्थानं प्राणशक्त्यधिष्ठानरूपं सुषुम्नान्तः स्थं स्थानम्, तृतीयं च विश्वस्य स्फूर्तेः केन्द्रभूतञ्चित्प्रकाशात्मकं सारभूतं तत्त्वम्। तत्र दहराकाशे वा, सौषुम्ने नाडीचक्रकेन्द्रस्थाने वा चित्तस्य यद् विश्रामणं, तत्रैवास्य विश्रान्ततापदनं, तदेवात्र तस्य संघट्ट इत्युक्तम्। तस्माच्चित्त संघट्टरूपात् कारणाद् दृश्यस्वापदर्शनम्। अथवा—विश्वस्य स्फूर्तेः केन्द्रभूते चित्प्रकाशे चित्तस्य संघट्टात्-तेन साकमेकीकारात् तत्। दृश्यस्य प्रमेयताप्रधानस्य जाग्रत्स्वप्नात्मकस्य प्रपञ्चस्य, स्वापस्य च सौषुप्तस्याभावात्मकस्य मायामयस्य शून्यस्य दर्शनम्—यथार्थं साक्षात्कारात्मकं ज्ञानं भवति योगिनः।

२. अथवा—चित्प्रकाशे चित्तस्य विलापनाद्वा, स्थूले सूक्ष्मे वोपरिनिर्दिष्टे हृदये

चित्तसमाधानाद्वा स्वप्न-जाग्रत्-सुषुप्तिमयस्य विश्वस्य चिदात्मकतया यथार्थं दर्शनं भवति पूर्वोक्तस्य योगिनः। स्वस्वरूपदर्शनं तु तस्यैवमेव भवत्यनुपायमेव, परं प्रमेयस्य याथार्थ्येन दर्शनमेतैरुपायैस्तस्य भवति। समुद्द्योतितचित्प्रकाशस्य परयोगिनोऽन्यस्यापि वाभ्यासपरस्य प्रपञ्चयाथार्थ्यस्य दर्शनमपि भवति।

३. किञ्चानेन योगाभ्यासेन दृश्यस्य दर्शनीयस्य दर्शनार्हस्य निज स्वरूपस्य यथार्थं दर्शनं; भवति; स्वापस्य च मायाकृतस्य मोहस्याप्यनेनोपायेन यथार्थं दर्शनं भवति। दृश्यं जगन्मायामोहोऽपि च चित्प्रकाशलीला विलासतयैव स्फुटं प्रकाशेते।

१. तीन पदार्थों को हृदय कहा जा सकता है—(१) हृदय कमल के भीतर विद्यमान दहर नामक स्थान को, (२) सुषुम्ना नाडी के भीतर विद्यमान प्राणशक्ति के प्रधान केन्द्र को और (३) विश्व के आभास का आधार बने हुए चित्प्रकाश को। पहले दो स्थानों पर चित्त को एकाग्र करने से, या चित् प्रकाश के भीतर चित्त को विश्रान्त करने से योगी को जाग्रत् और स्वप्न के सारे दृश्यात्मक प्रपंच के वास्तविक तत्त्व का भी दर्शन अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप का भी ज्ञान होता है और स्वाप कहलाने वाली सुषुप्ति के भी तत्त्व का वास्तविक ज्ञान हो जाता है।

२. फिर योगी को उपरोक्त स्थूल या सूक्ष्म हृदय पर सावधानतया टिके रहने का अभ्यास करने से, या चित्-प्रकाश में चित्त को विलीन करने से स्वप्न, जाग्रत्, सुषुप्ति-स्वरूप समस्त प्रपंच के वास्तविक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है, सारा विश्व ही उसे चित्स्वरूपतया ही दीखता है।

३. जो वस्तु सचमुच दर्शनीय है, इस शाम्भवयोग से उसका अवश्य ही दर्शन होता है। तात्पर्य यह है कि इससे परमेश्वरता का भी दर्शन होता है और साथ ही स्वापरूपी मोह के भी वास्तविक तत्त्व का दर्शन हो जाता है। शाम्भवयोगी को जगत् भी और मोह भी चित् प्रकाश की विशेष लीलाओं के ही रूप में दृष्टि में आ जाते हैं।

१६/१. शुद्धतत्त्वसन्धानाद्वा

परिपूर्णसंविन्मात्रस्वरूपं यच्छिवाख्यं शुद्धं तत्त्वं तस्यैव सर्वदा सर्वत्र सन्धानम्-अनुसन्धानात्मकं विमर्शनं यत् तेन, स्वशिवत्वानुसन्धानेन वा योगिनो दृश्यस्वाप-विषयकं यथार्थं दर्शनं भवति। एवं च तस्य शिवचैतन्ये स्थितिर्भवति। तच्चानुसन्धानं पूर्वोक्तात् चित्प्रकाशप्रथनादिति। एवं दृश्यस्वापदर्शनमित्यप्यत्रानुवर्तते। शुद्धतत्त्वस्य संविदात्मनः शिवस्य सर्वत्र बाह्याभ्यन्तरे वेद्ये तदभावरूपे वा शून्येऽनुसन्धानात् तद्रूपतया

तस्य तस्यावस्था-भेद-प्रपञ्चस्य दर्शनाद्, दृश्यस्य स्वापस्य च यथार्थं दर्शनं भवतीति फलितोऽर्थः। एषा तस्य महानन्दे प्रतिष्ठा। शुद्धस्य पारमेश्वर-शक्ति-रूपस्य तत्त्वस्याभीष्ट-भोगमोक्षौन्मुख्येन सम्यग् धारणं सन्धानम्। तेन तद् दर्शनमिति।

परमशिवात्मक शुद्धतत्त्व का अनुसन्धान करने से, अर्थात् सर्वत्र उसी को देखते हुए उसी का विमर्शन करने से योगी शिवचैतन्य में ही प्रतिष्ठित हो जाता है और दृश्य के तथा स्वाप के भी वास्तविक तत्त्व का उसे दर्शन हो जाता है, अथवा शाक्त तत्त्व की अभीष्ट भुक्ति मुक्ति को लक्ष्य करके अपने में धारण करने से दृश्य आदि का दर्शन होता है।

१६/२. स्वपदशक्तिः

स्वपदं शक्तिर्यस्यासौ योगी स्वपदशक्तिरिति बहुव्रीहिः। स्वपदं स्वात्मनः परमधिष्ठानं शुद्धं शिवत्वम्। तदेवैतस्य समुदितचित्प्रकाशस्य योगिनः शक्तिरिति साक्षात् तस्य तथाऽनुभूतिर्भवति। शिवत्वमेव सृष्ट्यादिसम्पादन -स्वातन्त्र्यमस्य योगिनः स्वस्य शक्तिरिति संवेदनं भवति। एवं सृष्ट्यादिसम्पादन-स्वातन्त्र्यं स्वस्य शक्तित्वेन पश्यन्नसौ समुदितचित्प्रकाशः साधकः शक्तिचैतन्ये प्रतिष्ठां लभते। किञ्चास्य स्वात्मनः परमधिष्ठानं यच्छिवत्वमस्य योगिनः स्वपदं तस्य स्वपदस्य शक्तिरेवास्य दृश्यस्वापदर्शनतया परिणमते इति तत् पदानुवृत्त्या सिद्ध्यति। एषा तस्य परानन्दे प्रतिष्ठा शक्तिचैतन्येऽपि च।

शुद्ध प्रकाशात्मक शिवत्व को ही अपना अधिष्ठान जानता हुआ योगी जब अपने में ही सृष्ट्यादि पंच कृत्य करने की शक्ति को अपनी अनुभूति के भीतर चमका देता है तो उसे अपनी शक्ति की संवेदना से दृश्य और स्वाप के वास्तविक मूलस्वरूप का दर्शन हो जाता है। ऐसा हो जाने पर उसे अपने शक्तिचैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाती है, क्योंकि शिवता ही उसकी शक्ति बन जाती है और वह उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है।

इन उपरोक्त दो सूत्रों को कोई कोई आचार्य परस्पर मिलाकर एक ही सूत्र के रूप में लिखते हैं और पढ़ते पढ़ाते भी हैं और पाठभेद भी मानते हैं। तदनुसार व्याख्या यह होगी।

अथ पाठान्तरम्–

१६. शुद्धतत्त्वानुसन्धानाद्वाऽपशुशक्तिः।

सर्वत्र प्रमेयजाते शुद्धतत्त्वस्यैव परिपूर्णसंविदात्मनोऽनुसन्धानात् शुद्ध-संविदात्मकोऽह-मेव सर्वमिदमित्येवं सर्वत्र विमर्शनाद् अपशुशक्तिः-पशुदशोचिता या न भवति सा

पतिदशासमुचिता शक्तिर्यस्य स तथाभूतोऽसौ योगी सम्भवतीति शेषः।

संवित् स्वरूप शुद्ध तत्त्व का ही सर्वत्र अनुसन्धान करने से, अर्थात् बाह्य और आन्तर जगत् में सर्वत्र उसी की सत्ता का विमर्शन करने से तथा सर्वत्र उसी को देखते रहने से शाम्भवयोगी पशुभाव से उत्तीर्ण होकर पतिभाव पर आरूढ हो जाता है। उसमें पतिप्रमाता की शक्तियां स्वतः उद्बुद्ध हो जाती हैं।

सूत्रस्यास्य योग विभागप्रक्रियया पूर्वोक्ता व्याख्या परम्परागता, विनायोग विभागं चेयमपरा व्याख्या अर्वाचीनैराचार्यैः कृता। प्राचीनपरम्परानुसारं सूत्रद्वयमिदम्; अर्वाचीन-मते चैकमेव। वसुगुप्तीयपरम्परानुसारं १६, १७, १८ इति संख्येन सूत्रत्रयेण शाम्भवयोगिनः शिवचैतन्ये, शक्तिचैतन्ये, आत्मचैतन्ये च क्रमेण प्रतिष्ठा प्रतिपाद्यते। तदनुसारं योगविभाग एव साधुः।

१७. वितर्क आत्मज्ञानम्।

वितर्को विशिष्टस्तर्कः। संविदात्मकः विश्वशरीरः शिव एव वस्तुतोऽहम्, न केवलं शरीरादि-मात्र-रूपः; तस्य शरीरादेरपि संविद्येव प्रतिष्ठितत्वात्, संविदः एव सत्त्वे तत्-सत्त्वात्, संविदनुगृहीतत्वं च तत्सत्तावभासनात्, तदनुग्रहाभावे च तस्य सत्ताया एवासिद्धत्वात्। इत्येवं-रूपः स्वानुभूतिनिष्ठो विशिष्टस्तर्कः सर्त्तको यस्तस्य योगिनो बुद्धौ समुदेति स तस्यात्मज्ञानम्, येनासौ स्वात्मानं शिवात्मकं निश्चिनोति, पश्यति च साक्षात्तथा। एषा तस्यात्मचैतन्ये प्रतिष्ठा। आणवोपाय साध्येयं प्रतिष्ठा सोद्यमस्य शाम्भवयोगिनः एवमेव भवति विनाप्याणवयोगाभ्यासम्। एषा तस्य निरानन्दे प्रतिष्ठा।

अथवा—वितर्के इति सप्तम्यन्तं पदम्। तत् पक्षेऽयमर्थः—तथाविधे वितर्के समुदीयमाने सति योगिनः आत्मज्ञानं भवति, आत्मानमसौ वास्तविकेन वपुषा प्रत्यभिजानाति। इदं तस्य बौद्धमात्मज्ञानं भवतीति।

अथवा—विगतं तर्कणं—विकल्पात्मकं ज्ञानं यस्मिन्नसावनिर्वचनीयः साक्षात्कारो यस्तस्य योगिनोऽसावेव तस्यात्मज्ञानम्। स्वस्याचिरद्युतिकल्पेन दर्शनेन योगिनो या आश्चर्यमाणता इव प्रागुक्तास्ता एवात्र वितर्क इत्युक्ताः। असौ वितर्क एवैतस्य योगिनः स्वयमेव यः समुदेति सोऽस्यात्मज्ञानम्, आत्मनः साक्षात्कारस्य प्राथमिक उन्मेषप्रसरः।

दृश्यस्वापदर्शनमित्यस्यात्राप्यनुवृत्ति पक्षे सूत्रस्यैतत् तात्पर्यम्—शाम्भवोद्यमतः समुद्बुद्धेन चित्प्रकाशेन योगिनो यद्वितर्कात्मकमात्मज्ञानं समुदेति तदप्यस्मै दृश्यस्वापदर्शनात्मकतया परिणमते इति।

१. सूत्र में वितर्क शब्द का अभिप्राय है सत्तर्क। अपनी स्वसंवेदन नामक अनुभूति के अनुसार चलने वाले तर्क को सत्तर्क कहते हैं। सत्तर्क ही विशिष्ट तर्क होता हुआ यहां वितर्क है। वह इस प्रकार से चलता है, स्वात्म अनुभूति के बल का सहारा लेते हुए–"सब कुछ चित्प्रकाश ही है, क्योंकि उसी के भीतर उसी की महिमा से सब कुछ प्रतिबिम्बित होता हुआ आभासित हुआ करता है। उसके अनुग्रह के विना किसी भी विषय का आभास हो ही नहीं सकता। जड वस्तु चेतन के भीतर प्रतिबिम्बित होती हुई भी जड ही बनी रहती है। जड कभी स्वयं प्रकाशित हो ही नहीं सकता। एकमात्र चैतन्य ही स्वयं प्रकाशित होता हुआ जड पदार्थों के प्रतिबिम्बों को अपने भीतर धारण करता हुआ उन्हें भी प्रकाशित करता है। तो वस्तुतः चेतना का अपना प्रकाश ही स्वयं चमकता रहता है तथा जड पदार्थों के प्रतिबिम्बों को अपने में धारण करता हुआ उन्हें भी चमका देता है। वस्तुतः उन प्रतिबिम्बों को लेकर के चेतना ही स्वयं प्रकाशित हुआ करती है। अतः चेतना ही सब कुछ का रूप धारण करके सब कुछ के रूप में स्वयं चमकती रहती है। तो चित् प्रकाश या चेतना या चैतन्य ही सब कुछ है।" इस इस प्रकार की युक्तियों को सतर्क कहते हैं। ऐसे सत्तर्क को ही सूत्र में वितर्क अर्थात् विशिष्ट तर्क कहा गया है। उद्यमात्मक शाम्भव उपाय के अभ्यास से जब शिवयोगी को अपना चित्प्रकाश चमक उठता है तो उसे ऐसा वितर्क स्वयमेव समुदित हो जाता है। वही उसका आत्मज्ञान, अर्थात् बौद्ध आत्मसाक्षात्कार बन जाता है जिसे अपने में चमकाकर वह आत्मचैतन्य में स्थिति पाता हुआ कृतकृत्य हो जाता है।

२. आत्मसाक्षात्कार से जन्य चमत्कारों से होने वाले आश्चर्य के भावों को भी वितर्क कहा जा सकता है। ऐसा वितर्क ही शिवयोगी के लिंए आत्मज्ञान बन जाता है, जब उसके चित्प्रकाश का स्वरूप आश्चर्यमयता से चमकने लग जाता है।

१८. लोकानन्दः समाधिसुखम्।

१. लोके–प्रमाणप्रमेयात्मके प्रपञ्चे तस्य च प्रपञ्चस्यासंख्यप्रकारे व्यवहारजाते चलति सति यः प्रमात्रैकपदे विश्रान्त्याऽभिव्यज्यते आनन्दः स एव लोकानन्दः। असावेव स्वरूपस्पन्दनिष्ठस्य चित्प्रकाशविभूतीर्भुञ्जानस्य शिवयोगिनः समाधिसुखम्। न तस्य पातञ्जलसमाधि योगाभ्यासायासस्य काप्यावश्यकता। असौ निखिलं प्रमाणप्रमेयप्रपञ्चं तस्य चावान्तरं व्यवहारजातं सकलं स्वात्मस्वरूपापरिमितप्रमात्रैकरूपं परिपूर्णम् "अहम्" इत्येव सततं पश्यन् व्युत्थानेऽपि समावेशभाग्भवति। तस्य स्वात्मशिवभावसमावेशो लौकिकेन व्यवहारेण न तिरोधीयते।

२. किञ्च यदेवंविधस्य परयोगिनः समाधिसुखं तल्लोकस्य कृते आनन्दः। तस्य समाधि सुखोदयः सर्वस्य लोकस्य कृते कल्याणकृद् भवतीति।

३. अपरञ्च–विदितवेदितव्यः सर्वथापि कृतकृत्यो योऽसौ शाम्भवयोगी तस्य स्वरूपसाक्षात्कारे सर्वथा दृढत्वेन हृदयङ्गमीभावं प्राप्ते सति शेषमायुरसौ लोकस्यानन्दने यापयति, लोकस्यानन्दाय शास्त्रनिर्माणोपदेशदीक्षादिकं कुर्वन्ननुग्राह्येष्वनुग्रहलीलां सम्पादयमानो लोकोपकारमात्रं व्यवहारं करोति। असौ लोकानन्दसम्पादको व्यवहार एवास्य समाधिसुखम्। नास्य समाध्यभ्यासापेक्षा कापि। असौ केवलं लोकानुग्रह एव राज्यन् तुष्यति।

४. अपरं च–लोकयति प्रकाशयतीति लोकश्चित्प्रकाशः। चित्प्रकाशानुग्रहेणैव सर्वस्य मित-प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयाख्यस्य विश्वस्य प्रकाशो भवति, नान्यतः। स च चित्-प्रकाश एवानन्दः; आनन्दस्य चित्-स्वभावभूतत्वात्। आनन्दात्मकतयैव विचित्रा चित् प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयात्मकतया-ऽनन्तप्रकारकवैचित्र्य-प्रतिबिम्ब-खचिताऽऽभाति। तस्य चित्प्रकाशस्यैव सर्वतः सर्वत्र यत् प्रथनं स्वरूपस्पन्दनिष्ठस्य योगिनो भवति, तदेव तस्य समाधिसुखम्, स एव तस्य सततगत्या प्रचलन् शिवभावसमावेशाह्लाद चमत्कारः। निर्व्युत्थानोऽयं तस्य समाधिः।

५. पुनश्च लोकानन्दो लौकिको विषयानन्दः। असावपि स्वरूपस्पन्द-निष्ठस्य योगिनश्चित् प्रकाशात्मकतया समाधि-सुखमेव। यदुक्तम्–

तेनैव दृष्टोऽसि भवद्दर्शनाद् योऽति हृष्यति।
कथञ्चिद् यस्य वा हर्षः कोऽपि तेन त्वमीक्षितः॥ (शि. स्तो. १०-७)

१. लोकव्यवहार के चलते रहने पर भी शिवयोगी को शुद्ध प्रमातृ तत्त्व पर ही जो विश्रान्ति होती रहती है, उससे होने वाले आनन्द को यहां लोकानन्द कहा गया है। उसकी अनुभूति ही शिवयोगी के लिए समाधिसुख बन जाता है। वह व्युत्थान की अवस्था में भी सर्वत्र आत्मस्वरूप का ही दर्शन करता हुआ सदा समाधिनिष्ठ ही बना रहता है।

२. शिवयोगी को जो समाधिसुख की अनुभूति होती है वह सारे जगत के लिए आनन्ददायिनी बनती है; अर्थात् उसके प्रभाव से सारे जगत का कल्याण होता है।

३. स्वयं कृतकृत्य बना हुआ शिवयोगी आगे यदि कुछ काम करता है तो केवल लोकोपकार ही के लिए करता है। इस तरह से उसके द्वारा जो आनन्द लोगों को दिया

जाता है वह उसी से सन्तुष्ट होता हुआ उसी को समाधि सुख गिनता है। उसे समाधि के अभ्यास की आवश्यकता होती ही नहीं।

४. लोक का अर्थ आलोक या प्रकाश भी होता है। यहां लोक पद से चित्प्रकाश को लिया जा सकता है। वह सदैव आनन्दमय स्वभाव का होता है। स्वरूप-स्पन्द पर स्थिरतया स्थित रहने से शिव योगी को सर्वत्र अपना चित् प्रकाश जब चमक उठता है, तो उसे सर्वत्र उसके आनन्द का ही अनुभव होता रहता है, क्योंकि वह सर्वत्र चित्-प्रकाश का ही दर्शन करता रहता है। ऐसा आनन्द ही उसके लिए समाधिसुख बन जाता है। उसे समाधि के अभ्यास की आवश्यकता पड़ती ही नहीं।

५. लौकिक विषयानन्द में भी शाम्भवयोगी को समाधिसुख का ही लाभ होता है। क्योंकि प्रत्येक आनन्द वस्तुतः पारमेश्वर आनन्द से अभिन्न ही है।

१९. शक्तिसन्धाने शरीरोत्पत्तिः।

शक्तयोऽत्रान्तरङ्गं शक्तिचक्रं संविदः, तच्च चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यं शक्तिपञ्चकम्। तस्य सन्धाने–सम्यग् धारणे सति शरीरोत्पत्तिः-योगिनः कायव्यूह-सम्पादन-सामर्थ्यं समुद्भवति। अथवा शरीरमित्युपलक्षणम्। तेन शरीर-प्राण-करण-विषय-लोक-लोकान्तरादीनामुत्पत्तिरित्यर्थः। स्वेच्छयासौ शाम्भवयोगी यदीहते तन्निरुपादानसम्भारं निमित्तकारणान्तरराहित्येनैव स्रष्टुं समर्थो भवन् स्वस्य शिवत्वं क्रियात्मकतयाप्यनुभवन् परिपूर्णतया कृतकृत्यतायाश्चमत्कारं रसयति।

स्वात्मन्यभेदेनानुसन्धानमपि सन्धानपदस्यार्थः। तेन पारमेश्वरीणां शक्तीनां स्वात्मन्यभेदेनानुसन्धानस्य सामर्थ्येन यथेच्छं सृजति योगी। फलमेतत् स्वरूपस्पन्दनिष्ठायाः।

अपने शिवात्मक स्वभाव के साक्षात्कार के हो चुकने पर जब शाम्भवयोगी अपनी चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रुप पांच अन्तरङ्ग शक्तियों का अनुसन्धान करता है, अर्थात् प्रयोगोन्मुखता से उनका विमर्शन करता है, तो वह कायव्यूह के द्वारा अपने अनेकों शरीरों की उत्पत्ति कर सकता है; एक होता हुआ भी अनेकों शरीरों को धारण करके प्रकट हो सकता है तथा अनेक अन्तःकरण, बहिःकरण, विषय, लोक, लोकान्तर आदि की सृष्टि कर सकता है। विना उपादान और निमित्त रूप कारणों का उपयोग किए ही जो चाहता है, उसकी सृष्टि कर सकता है।

पारमेश्वरी शक्तियों का अपने भीतर अनुसन्धान करने से शिवयोगी परमेश्वरवत् जिस वस्तु को चाहे उसकी सृष्टि कर सकता है।

अथ चित्प्रकाशोद्दीप्तेरानुषङ्गिकाणि फलान्युच्यन्ते–

२०. भूतसन्धान-भूतपृथक्त्व-विश्वसंघट्टाः।

भूतानां पृथिव्यादीनां तत्-प्रपञ्च-रूपाणां च पार्थिवादि-पदार्थजातानां सन्धानं–स्वात्मन्यभेदेनानुसन्धानं वा, सम्यग् धारणं वाऽऽप्यायन-पोषण-विसर्जन-विकासनादिकम्; भूतपदोपलक्षितानां भौतिकानां पदार्थानां वस्तुतः संविदेकरूपतया परस्परमभिन्नानामपि पृथक्त्वं–पृथक् पृथक्तयावभासनं; विश्वेषां–देशकालाकार भिन्नानां सांसारिकाणां पदार्थानां संघट्टः–एकत्र मेलनं, विप्रकृष्टादीनामप्यासादनं विनायासक्लेशं, परस्परमेलनं वा–सममेव ज्ञानविषयतापादनं वाऽस्य स्वरूपस्पन्दानुसन्धायिनः समुद्दीपितचित्प्रकाशस्य शाम्भवयोगिनस्तद्योगानुषङ्गिकफलत्वेनाणव विभूतिलाभरूपत्वेन च सम्भवति। तच्च तस्य प्रागुक्तशक्तिसन्धानतः सम्भवति।

शाम्भवयोगी अपने में पञ्चभूतों का अनुसन्धान कर सकता है, इन्हें अभेदमयी दृष्टि से ऐसे देख सकता है कि ये सब मुझ में ही हैं। फिर आप्यायन आदि की क्रियाओं के द्वारा भौतिक पदार्थों को पुष्टि आदि भी दे सकता है।

सभी भौतिक पदार्थ संविद्रूप आत्मा से वस्तुतः अभिन्न हैं। परन्तु फिर भी शिवयोगी इन्हें भेदभाव से पृथक् पृथक् ठहरा सकता है। वह काल की और देश की दोनों ही यवनिकाओं को खींच करके भूत और भविष्यत् को भी वर्तमान के साथ जोड़कर उन्हें एक साथ देख सकता है। वैसे ही दूरस्थ वस्तु को समीपतया देख सकता है। भूत और भविष्यत् की घटनाएं उसके सामने वर्तमान बन सकती हैं और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) और व्यवहित वस्तु सामने आ जाती है। दूर, निकट, व्यवहित आदि सभी पदार्थ एक साथ उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। ऐसी आणवोचित योग सिद्धियां शाम्भवयोगी को विना ही प्रयत्न के स्वयं प्राप्त हो जाती हैं।

२१. शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः।

स्वेच्छामात्रतोऽनन्तार्थस्रष्टृत्वाद्यात्मकपरस्वातन्त्र्य स्वभावस्यात्मनः सर्वमिदमहमेवेति विज्ञानात्मिका साक्षादनुभूतिस्तस्य शाम्भवयोगिनः शुद्धविद्योदयः। तेन च शुद्धविद्योदयेनासौ समस्तस्य शक्तिचक्रस्येश्वरत्वं साक्षादनुभवति स्वत्वेन। तेन स्वात्मनः परमेश्वरत्वं ज्ञानतो विज्ञानतश्च परिपूर्णतयानुभवति। आनुषङ्गिक्योऽवरा इमास्तस्य सिद्धयः।

जब शाम्भवयोगी अपनी परमेश्वरतात्मक स्वतन्त्रता का अनुभव करने लग जाता

है तो उसे सब कुछ अपना आप ही दीखने लगता है। ऐसा हो जाना ही उसकी शुद्धविद्या का उदय कहलाता है। उससे वह समस्त पारमेश्वरी शक्तियों के चक्र का स्वामी बन जाता है। यह एक और सिद्धि उसमें प्रकट हो जाती है।

२२. महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः।

निर्मलत्वात् परिपूर्णत्वात् सुगम्भीरत्वाच्च परमशिवात्मिका परा संविदेव महाह्रदः। तस्यानुसन्धानम् "अहम्" इति विमर्शनम्। गर्भीकृतानन्तविश्वप्रपञ्चा वा परसंविदः पारमेश्वरी शक्तिर्महाह्रदः। तस्या अनुसन्धानं—स्वात्मस्वभावतया सम्यग् विमर्शनम्। तस्मात् तथाभूताद्विमर्शात् कारणाद् वक्ष्यमाणस्य मन्त्रवीर्यस्यानुभवो भवति योगिनः। अथवा सर्वेषामेव मन्त्राणां वीर्यभूतस्य पूर्णाहन्ताविमर्शरूपस्य महामन्त्रस्यानुभवो भवति योगिनः।

किञ्च परसंवित्समुद्रान्तर्निमग्नतायां तस्य शिवयोगिनो मातृकामालिनीस्वरूपाणामकारादिक्षकारान्तानां नकारादिफकारान्तानां च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणां मन्त्रकलानां वीर्यस्य परशिवशक्त्यात्मकस्य परस्य सामर्थ्यस्य साक्षादपरोक्षतया-ऽनुभवो भवति, येनासौ मातृकादिकलाविमृश्यं धरादिशक्त्यन्ततत्त्वप्रतिबिम्बखचितं चित्प्रकाशात्मकं स्वात्मानं पश्यन् कृतकृत्यतामनुभवति।

परमेश्वररूपी महान् झील का अनुसन्धान करने से, अर्थात् तद्रूपतया अपने आप का विमर्शन करने से, योगी को एक तो समस्त मन्त्रों में रहने वाली शक्ति का अनुभव हो जाता है और दूसरे समस्त मन्त्रों की वीर्यभूता जो परिपूर्ण अहंविमर्शमयी संवित् है, उसका भी उसे अनुभव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वह अपने आप को असीम और परिपूर्ण संवित्-स्वरूप "अहं" के रूप में ही समझने लग जाता है और उसे सभी रहस्यभूत आगमिक मन्त्रों के रहस्य स्वयमेव खुल जाते हैं। तब उसके द्वारा उपदिष्ट मन्त्रों में ऐसा बल आ जाता है कि उनसे शिष्यों को भोग और मोक्ष रूपी फल अवश्य मिल जाते हैं।

शिवसूत्र शास्त्र के इस प्रथम खण्ड में शाम्भव उपाय के प्रधान फलों के साथ ही साथ बहुत सारे आणवोचित और शाक्तोचित फलों को भी बताया गया है। पहले पांच सूत्रों में शुद्ध शाम्भव उपाय के स्वरूप को बताकर आगे चौदहवें सूत्र तक उसके साक्षात् और मुख्य फलों का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें सूत्र से लेकर के उसके आनुषङ्गिक फलों को जतलाया गया है। उनमें अनेकों ही फल शाक्ती भूमि के तथा आणवी भूमि के भी हैं। जैसे—दृश्य-स्वापदर्शन, लोकानन्द, शक्तिसन्धान, भूतसन्धान, मन्त्रवीर्य इत्यादि आणवी भूमिका के योग फल हैं और शुद्ध विद्या का उदय, तत्त्वानुसन्धान,

वितर्क आदि शाक्ती भूमिका की विशेषताएं हैं।

इन बातों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शिवसूत्र के तीन खण्ड पृथक् पृथक् तीन उपायों का निरूपण नहीं कर रहे हैं, अपि तु एक मात्र शाम्भव उपाय का, और उससे उद्बुद्ध होने वाली सहज विद्या का तथा उसकी अनेकों विभूतियों का ही प्रतिपादन क्रम से कर रहे हैं। अतः इस विषय में गुरु परम्परा पर आश्रित भट्ट-भास्कर की ही दृष्टि यथार्थ है; तथा क्षेमराज की दृष्टि का आश्रय उसकी अपनी कल्पना है, जो यथार्थ नहीं है, परम्परा के अनुसार चलती नहीं है और युक्ति सङ्गत भी नहीं है। उसने ऐसी कल्पनाएं केवल अपनी बुद्धि की प्रखरता और अपनी बहुश्रुतता को जतलाने के लिए ही की हैं, भगवान् शिव के तथा आ० वसुगुप्त के अभिप्राय का स्पष्टीकरण करने के प्रयोजन से नहीं की हैं। फिर भट्टकल्लट की शिष्यपरम्परा के साथ जो उसे होड़ सी थी, वह भी उसकी ऐसी कल्पनाओं का एक और कारण बनी है।

यहां प्रश्न यह किया जा सकता है कि शाम्भव-उपाय के निरूपण में शाक्ती और आणवी भूमिका की विशेषताओं का उपरोक्त और आगे आने वाला निरूपण किया ही क्यों गया, जब शिव सूत्र का विषय केवल शाम्भव-उपाय ही है। इस बात का उत्तर यह है कि हाथी के पैर में सभी के पैर आ जाते हैं। शाम्भव उपाय के अभ्यास के परिपक्व होने पर कौन से ऐसे योग फल हैं जो अनायास ही प्राप्त नहीं होते। शाम्भव योगी को शाक्त उपाय और आणव उपाय के अभ्यासों को किए विना ही उन सभी के रहस्य चमक उठते हैं और उनके फल प्राप्त हो जाते हैं। केवल इतना ही नहीं, उस अभ्यास से सांसारिक त्रिवर्गात्मक फल भी विना किसी यत्न के प्राप्त हो जाते हैं। सब प्रकार की भुक्ति और मुक्ति एवमेव हाथ में आ जाती है, सभी आध्यात्मिक दर्शन विद्याओं के रहस्य स्वयमेव खुल जाते हैं। सुमेरुपर्वत के शिखर पर खड़ा होकर कोई प्राणी चारों ओर दृष्टि डाले तो कौन सी वस्तु उसे स्पष्ट दीखेगी नहीं, सब कुछ सामने आ जाएगा और फिर दृष्टि ऐसी तीक्ष्ण बनेगी जो सब कुछ के पूरे रहस्य को देख सकेगी; ऐसी महिमा शाम्भव उपाय की है। यही उपाय सब उपायों में सबसे सरल है, परन्तु फिर भी इस उपाय में प्रायः साधकों को प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि होती भी है तो इसके उस कृत्रिम ढङ्ग में प्रवृत्ति होती है जो तुर्या और तुर्यातीत दशा का स्पर्श भी न कराता हुआ सुषुप्ति में ही टिकाए रखता है और ऐसे अवर साधक उसी को परमपद समझते हुए वहीं पर टिके रहते हैं। इसी कारण स्वच्छन्द तन्त्र में कहा है—

भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया। (स्व. तं. १०-११४१)

जिन्हें इसके वास्तविक ढङ्ग में भी प्रवृत्ति होती है उनमें से भी बहुत सारे उत्कृष्ट

योग सिद्धियों के जाल में फंस जाने से शिवपद को प्रायः प्राप्त नहीं करते। वही साधक इस शाम्भवोपाय का अभ्यास यथार्थ ढङ्ग से करता हुआ और सिद्धि जालों में न फंसता हुआ इसके द्वारा तुर्या के ऊंचे स्तर पर और तुर्यातीत पद पर भी पहुंच जाता है, जिस पर शिव जी तीव्र अनुग्रह करते हैं। इसी विचार से आ० अभिनवगुप्त ने कहा है—

केतकी कुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिकाः।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः।। (मा.वि.वा. २-१५१)

द्वितीयः प्रकाशः

(सहजविद्योदयाख्यः)

शुद्ध विद्योदयं कुर्वन् सहजं भुक्तिमुक्तिदः।
योगः स शाम्भवो नित्यं जयत्यद्भुत-शक्तिकः॥

१. चित्तं मन्त्रः।

१. बहुतर-दृष्टिभेदानुसारमनेकधा व्याख्यातुं शक्यमिदं सूत्रम्। तद्यथा—(१) चित्-प्रकाशस्फुरणेन सहजविद्योदये सञ्जाते सति योगिनः समाविष्टं चित्तमेवोपास्योपासकयोः परस्परं तादात्म्यसम्पादको मन्त्रो भवति परस्याराधकस्य विषये।

२. सर्वज्ञतादिगुणमण्डितः, दिक्कालाकारकृतसङ्कोचरहितो, ऽनुभूतनिजचित्-प्रकाशः प्रमाता चित्तरूपतायां स्थित एव सन्नत्रासौ मन्त्रो भवति यस्य वीर्यं पूर्वप्रकरणान्ते प्रकाशितमस्ति।

३. मन्त्रसाधना-पक्षे—"ॐ ह्रीं सौः" इत्येष मन्त्र एव चेत्यते विमृश्यतेऽनेनेति चित्तं, पूर्णस्फुरत्तासतत्त्व प्रणवादिबीजविमर्शरूपमत्र स्वत एव स्फुरति परयोगिनः।

४. उपरि निर्दिष्टेन "ॐ ह्रीं सौः" इति मन्त्रेण शाक्तोपायसाधना प्रारभ्यते इति केषामपि मतम्। तदेतद् यथार्थं वायथार्थं वेति त एव विमृशन्तु।

५. शाक्तोपायनिरूपणमितः इति वदतां मते—शुद्धविकल्पज्ञानसमाविष्टम् "अहं सर्वत्र, मयि सर्वम्" इत्यादि निश्चयज्ञानयुक्तं चित्तमेव मननत्राणकारित्वेन मन्त्रः इति।

१. चित्प्रकाश के स्पन्दन से समुदित होने वाली सहजविद्या के प्रभाव से प्रायः समावेश में ही रहने वाला साधक का चित्त ही उपास्य और उपासक में परस्पर अभेदभाव को ठहराने वाला मन्त्र बन जाता है।

२. देश-काल-कृत सङ्कोच से रहित, सर्वज्ञता आदि विभूतियों से युक्त स्वात्मस्वरूप की अनुभूति वाला प्रमाता ही चित्त की भूमिका पर उतर कर चमकता हुआ वह मन्त्र बन जाता है जिसके वीर्य के विषय में पीछे विचार किया गया।

३. "ॐ ह्रीं सौः" यह मन्त्र ही साधक को अपने स्वरूप का विमर्शन कराने वाला उत्कृष्टतर चित्त बन जाता है।

४. चित्त के द्वारा की जाने वाली शाक्ती उपासना "ॐ ह्रीं सौः" इस मन्त्र से ही प्रारम्भ की जाती है।

५. वास्तविक तत्त्व के विमर्शन से युक्त चित्त ही मन्त्र अर्थात् उपासना का साधन बन जाता है। उसके मनन से त्राण होता है। अतः वह मन्त्र कहलाता है।

२. प्रयत्नः साधकः।

एतत् सूत्रमप्यनेकधा व्याख्यातुं शक्यम्। तद्यथा–

१. इच्छाशक्तिप्रयोगात्मकः प्रयत्नो मन्त्रवीर्यस्य साक्षादनुभावक उपायः।

२. चित्प्रकाशानुभवादनायासं सद्यश्चोद्भावितः शुद्धविकल्पसंस्काररूपः प्रयत्नो मन्त्रवीर्यानुभवस्य साधकः।

३. चिच्छाक्तिस्वभावाभिव्यक्त्यात्मकस्य मन्त्रस्य नैरन्तर्येण मननस्याभ्यासोऽपि प्रयत्नः। सोपि मन्त्रवीर्यप्रकाशस्य साधकः।

४. प्रागुक्त उद्यमो वा यत्नः, स चेच्छाशक्तिप्रयोगात्मकः। असौ मन्त्रवीर्यानुभूतेः साधकः।

५. प्रयत्नो द्विधा–कृतकोऽकृतकश्च। अकृतकस्तावत् स्वरूपस्पन्देनोद्बुद्धस्य चित् प्रकाशस्य स्वभावभूता स्फुरत्ता। कृतकश्च शुद्धविद्याभ्यासात्मकः शाक्तोपायरूपः। तदकृतक उद्यम एवात्र प्रयत्नः। स एव साधको–मन्त्रयितुर्मन्त्रदेवता तादात्म्यप्रदः। इति।

१. इच्छा शक्ति का प्रबल प्रयोग यत्न कहलाता है। उससे मन्त्रों के मूलभूत वीर्य का, अर्थात् परिपूर्ण और शुद्ध अहंविमर्श का, अनुभव हो जाता है। इस तरह से वह मन्त्रवीर्य के प्रकाशन का साधन या उपाय बन जाता है।

२. शुद्ध विकल्प के संस्कार का अभ्यास भी यत्न कहलाता है। वास्तविक तत्त्व के यथार्थ और शब्दात्मक विमर्श को शुद्ध विकल्प कहते हैं। उसके संस्कार को पक्का कर देने के क्रमिक अभ्यास को विकल्प संस्कार कहते हैं। वह प्रयत्न भी मन्त्र वीर्य के प्रकाशन का उपाय है।

३. चित्शक्ति के वास्तविक स्वभाव की अभिव्यक्ति का अभ्यास भी एक प्रयत्न होता है। वह भी मन्त्रवीर्य को प्रकाशित करता है।

४. प्रथम खण्ड में प्रतिपादित उद्यम को भी यत्न कहा जा सकता है, जिससे मन्त्रों के वीर्य का प्रकाशन स्वयमेव हो जाता है।

५. यत्न दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और कृत्रिम। स्वाभाविक यत्न संवित् का स्फुरण है, जो स्वरूप स्पन्द से स्वयमेव प्रकट हो जाता है। कृत्रिम यत्न शुद्धविद्यात्मक विमर्श है। दोनों ही उपासक साधक और उपास्य-शिवचैतन्य में परस्पर अभेदभाव को विकास में लाने के साधन बनते हैं।

३. विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम्।

स्वरूप स्पन्दतः समुदितस्य चित्प्रकाशस्य फलत्वेन स्वयमेव समुद्भूता या पराद्वैत-विमर्शमयी सहजविद्या, तस्याः शरीरस्य-शुद्धविद्यात्मकस्य स्वरूपस्य, या सत्ता-स्थितिरशेषविश्वाभेदमयपूर्णाहन्ताविमर्शात्मा स्फुरत्ता, सैव मन्त्राणां परमं रहस्यम्-तात्पर्यभूतं प्रयोजनभूतं च साररूपं तत्त्वम्। तेनैव च मन्त्राणां वीर्यस्य प्रकाशनं भवत्यनायासमेव।

चित् प्रकाश के फल के रूप में अनायास ही समुदित होने वाली स्वरूप प्रकाशमयी, पराद्वैत-विमर्श-रूपिणी, सहजविद्या की स्थिर स्थिति ही मन्त्रों का रहस्य है। सहजविद्या उस स्वतः सिद्ध बौद्ध ज्ञान को कहते हैं जो यह जतलाता है कि आत्मपरमेश्वर एक ओर से केवल विश्वोत्तीर्ण शुद्ध और परिपूर्ण संवित् ही है और दूसरी ओर से सब कुछ वही है और इस सब कुछ के सृष्टि-संहार आदि की लीला का सदैव अभिनय वही करता ही रहता है; फिर अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार ऐसा अभिनय करता हुआ भी अपनी विश्वोत्तीर्ण संवित्-स्वरूपता से ज़रा भर भी कभी च्युत नहीं होता है। सहजविद्या के इस स्वरूप का संस्कार जब साधक पर पक्का पड़ जाता है, तो सभी मन्त्रों के रहस्य स्वयं खुल जाते हैं। चित् प्रकाश के उद्बुद्ध हो जाने पर ऐसी सहजविद्या स्वयमेव उभरती है। इसीलिए उसे 'सहज' कहा जाता है।

४. गर्भे चित्तविकासो विशिष्टोऽविद्यास्वप्नः।

गर्भे—प्रकाशानन्दसारमध्ये चित्तस्य चिन्मयी या स्थितिः चित्प्रकाशोदयादुदेति, सैव तस्य विशिष्टोऽसाधारणो विकासः। स तथाविधो विकासः शाक्तामृतपूरप्लुतजगन्मयः सन्नविद्यायाः स्वप्नः—संस्कारमात्रशेषो विलयो भवति। विशिष्ट इति परोऽसौ विकासश्चित्तस्य। स च तत्त्वव्रातजालरूपैः प्रथमानाया अविद्याया अलंग्रासयुक्त्या विलापनात्मकस्तस्याः स्वप्नो विलयस्थानं भवति।

गर्भ पद से यहां प्रकाशानन्द के अन्तरतम रहस्य को कहा गया है। जब चित्त उसी का अनुसन्धान करने लग जाता है तो उसका वह विकास विशिष्ट अर्थात् अत्युत्तम विकास होता है। उससे अविद्या का प्रपञ्च स्वप्नतुल्य हो जाता है और उसका केवल संस्कार ही शेष रह जाता है। वह विकास अविद्या को एकदम निगल डालता है, उसे अपने में विलीन कर देता है।

इस सूत्र के पाठ को कोई टीकाकार इस तरह से मानते हैं–

४. गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्या-स्वप्नः।

परसिद्धेरनुद्भवे सति गर्भे–मायामय्यामख्यातौ, मितसिद्धिप्रपञ्चादौ यश्चित्तविकासस्तथा-विधलौकिक-सिद्धिस्फुरणं, सा अविशिष्टा–सर्वजन-सामान्या, न विशिष्टयोगिमात्रलभ्या विद्या–अशुद्धविद्यैव। सा पुनः स्वप्नः–विकल्पात्मा भ्रम एवेति। अथवा–गर्भ इति साधकावस्थायाः सिद्धावस्थायाश्च मध्ये वर्तमानमवस्थान्तरम्। तत्रैवंविधाः मायीयाः सिद्धयो लभ्यन्त इत्यर्थः।

साधकावस्था और सिद्धावस्था के बीच में योगी को कभी परिमित लौकिक सिद्धियों का जो प्रपञ्च जाग उठता है, वह अविशिष्ट अर्थात् अशुद्ध-विद्यामय ही होता है। अतः उसे स्वप्न अर्थात् विकल्पात्मक भ्रान्ति में ही गिना जाता है। गर्भ नाम की यह दशा मायामयी ही होती है। ऐसी यह व्याख्या पूर्वोत्तर प्रकरण के साथ मेल नहीं खाती है। अतः पूर्वोक्त व्याख्या ही ठीक लगती है।

५. विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था।

चित्प्रकाशहृदयङ्गमीभावेन या सहजविद्या स्वयमेव समुन्मिषति तस्याः समुदये स्वाभाविके सहजे, न पुनर्भावनोद्भाविते, पराद्वयप्रथारूपे सहजशुद्धविद्योदये इत्यर्थः। तेन चित्प्रकाशेन मुद्रावीर्यमपि स्वयमेवोदयं याति। ततः खे–बोधगगने चरतीति खेचरी मुद्रा–मुदं कृतकृत्यतासंवेदनात्मकं परं हर्षं राति ददातीति तथाविधा शिवभाव-समावेशात्मिकावस्था समुदेति। हठयोगे प्रसिद्धा खेचरी तावत् कायिकक्रियाभ्यासप्रधाना जिह्वाया वैपरीत्येनान्तः-सञ्चारणात्मिका। परमियं बोधगगन-गतिरूपा परा खेचरी। सैषा सहजविद्योदये शाक्त-समावेशे सिद्धे स्वयमेव हस्तगता भवति। चित्प्रकाशदीप्त्या प्रवृत्ते शाक्तसमावेशे कुण्डलिनी-शक्त्युत्थान-मूर्ध्वाधोगतिशीलत्वं च स्वत एव विनापि क्रियायोगाभ्यासं प्रवर्तते शिवयोगिनः इति सूचितमनेन। सा च कुण्डलिनी शक्तिः खे सौषुम्ने शून्ये स्वयमेव चरतीति खेचरी शिवावस्था।

पराद्वैतमय ज्ञान को विद्या कहते हैं। वह चित्प्रकाश के चमक उठने पर स्वयमेव समुदित हो जाता है। उसके ऐसे उदय को सहज विद्योदय कहते हैं, जिसका विस्तृत निरूपण इस द्वितीय प्रकाश में किया गया है। उस सहजविद्या के उदय से साधक उस खेचरी स्थिति का अनुभव विना यत्न के स्वयमेव कर पाता है, जो शुद्ध संविद्रूपी बोधस्वरूप आकाश में उसे विचरण कराती है। ऐसी खेचरी अवस्था शिवमयी अवस्था होती है। यही शैव दर्शन की उत्कृष्ट खेचरी है। ख आकाश को कहते हैं। आकाश शून्य होता है। शिवभाव में सारा विश्व शक्तिरूपतया ठहरता हुआ अपने प्रमेयात्मक रूप में जराभर भी प्रकट नहीं होता है। अतः शिवभाव में एकमात्र शुद्ध संवित् ही चमकती है, जो प्रपञ्च से शून्य होती है और इसी से जिसे आकाश की उपमा दी जाती है। तभी यह शिवमयी दशा खेचरी कहलाती है।

६. गुरुरुपायः।

गृणात्युपदिशतीति गुरुः। अनुग्रहशक्तिपातप्रवणः परमेश्वर एव हि परो गुरुः। तस्यानुग्रहतो योगिनीदीक्षया प्रातिभं ज्ञानमुद्बुद्धं भवति परमस्याधिकारिणः साधकस्य। पारमेश्वरेणानुग्रहेणैवापरः साधकः प्रत्यभिज्ञातस्वात्म-महेश्वरभावं गुरुं प्रति नीयते, तदुपदेशेन च तस्यापि चित्प्रकाशः प्रदीप्तो भवति, सहजा शुद्धविद्या समुदयं याति, मन्त्रवीर्यं प्रकाशितं भवति, स्वाभाविकी च खेचरी हस्तगता भवति। तादृशः स्वात्मस्वरूपोपदेशक एव सर्वत्र व्यवहारे गुरुः। स च परमेश्वराभिन्न इति गण्यते। स एव ज्ञानविज्ञान-प्राप्तेरुपायः।

स्वात्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करा देने वाला और योग मार्ग को सिखा देने वाला महापुरुष गुरु कहलाता है। गुरु वस्तुतः वही बन सकता है, जिसे अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो चुकी हो, जो योग के रहस्यों को प्रयोग में लाता हुआ उन्हें सिखा सकता हो तथा जिसमें शिष्य के मलों को धो डालने की सामर्थ्य भी हो। ऐसे गुरु को शिवतुल्य माना जाता है। उसमें अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति उद्बुद्ध हुई होती है। ऐसे गुरु की प्राप्ति परमेश्वर के अनुग्रह-शक्तिपात से ही हुआ करती है। उत्तम अधिकारी को योगिनियां भीतर से ही दीक्षित कर देती हैं और उससे उनमें सच्चा प्रातिभ स्वात्मज्ञान स्वयमेव उद्बुद्ध हो जाता है। तो चाहे शिव की शक्तियां गुरु बनें, या चाहे कोई सिद्ध योगी गुरु बने, चित्प्रकाश को चमका देने में, सहज और स्वतः सिद्ध शुद्ध विद्या को जगा देने में, पूर्वोक्त मन्त्र-वीर्य के प्रकाशन में और प्रकृत खेचरी स्थिति को हाथ में लाने के प्रति वह गुरु ही उपाय होता है। गुरु के अनुग्रह के विना ये बातें सिद्ध नहीं होतीं। अतः लोक-व्यवहार में इन प्रयोजनों की प्राप्ति गुरु के अनुग्रह से ही मानी गई हैं।

७. मातृकाचक्रसम्बोधः।

गुरोरनुग्रहाच्छिष्यस्य मातृकाचक्रसम्बोधो जायते। तद्विषयमपरोक्षं ज्ञानं भवत्यस्य। तन्मातृकाचक्रमेव विद्याशरीरम्। तत्र शिष्यस्यानुत्तरानन्देच्छोन्मेषादीनां मातृकावयवानां तत्त्वस्य साक्षात्प्रकाशो जायते। स एव चिदानन्दघन स्वस्वरूप समावेश इति। तेनासौ षट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्वात्मप्रकाशभित्तौ स्वशक्तिप्रतिबिम्बमयानि साक्षात् पश्यञ्छिवता समावेशचमत्कारं रसयति।

गुरु के अनुग्रह से ही शिष्य को मातृकाचक्र का ठीक-ठीक बोध हो जाता है। उसे यह साक्षात् अनुभव हो जाता है कि वह अनुत्तर परमशिव है; अ से लेकर विसर्ग तक की कलाएं उसकी शक्तियों के भिन्न भिन्न पहलू हैं तथा क से लेकर क्ष तक के वर्णों के रूप में उसकी अपनी ही शक्तियों के प्रतिबिम्ब उसी के चित्-प्रकाश में पृथ्वी से लेकर शक्ति तक के तत्त्वों के आकार को लेकर के चमक रहे हैं। प्रतिबिम्बात्मक छत्तीस तत्त्वों से शोभायमान अपने चित्प्रकाश को देखते-देखते वह फूला नहीं समाता। यह सारा ज्ञान उसे निर्विकल्पतया, अर्थात् बुद्धि की कल्पना के बिना ही हुआ करता है।

८. शरीरं हविः।

मातृकाचक्रसम्बोधस्य महिम्ना साधके शुद्धविद्याया यः सहजः समुदयो भवति तन्महिम्ना शाक्तोपायमयो होमस्तस्यानायासमेव विनापि भावनाभ्यास-प्रयोगं सिद्धो भवति; येनासौ शरीरमेव चिद्वह्नौ जुह्वन्नानन्द चमत्काररसं रसयति। शरीरमत्रोपलक्षणं शरीरभुवनादेः सर्वस्य प्रमेयजातस्य। यद् यदसौ प्रमिणोति, तत्तत् प्रमातृवह्नावेकसात् करोति।

किञ्च- शरीरं चतुः प्रकारम्-

१) स्थूलं भौतिकं जागरे,

२) सूक्ष्मं पुर्यष्टकं स्वप्ने,

३) कारणं सूक्ष्मतरं प्राणात्मकं सवेद्यसुषुप्तौ,

४) ततोऽपि सूक्ष्..तिसूक्ष्मं मूलभूतकारणशरीरमपवेद्यसुषुप्तौ, परिमितसंविन्मात्रं मायावृतं शून्यात्मकम्। एतच्छरीरचतुष्टयं सकलादि-शून्यप्रलयाकलान्तास्ववस्थासु पशुप्रमातृभिः स्वात्मतयाभिमन्यते। तदात्मतयाभिमतं सकलमपि शरीरमस्य सहजविद्योदयशीलस्य साधकस्य

होमे हविर्भवति। असौ सर्वामपि स्थूल-सूक्ष्मादिशरीर-परम्परां तत्सम्बन्धि च मायीयं तत्त्वव्रातं परस्मिँश्चिदग्नौ जुह्वन् ब्रह्मानन्दास्वादनिर्भरतामनुभवति।

मातृकाचक्रसम्बोध के प्रभाव से समुदित सहजविद्या के प्रथित होने से शैव साधक अपनी संविद्रूपिणी स्वात्मरूपा होमाग्नि में अपने स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम शरीरों को तथा उनसे सम्बद्ध सभी मायामय तत्त्वों को आहुति के रूप में अर्पण करता है। तात्पर्य यह है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में जिन जिन पदार्थों पर उसे अहन्ता का मायीय अभिमान होता है, उन सब को तथा सभी इदंरूप प्रमेय जगत को, वह अब एकमात्र संवित् ही के रूप में देखने लगता है। जैसे आग में अर्पित की हुई आहुति सद्यः अग्नि ही बन जाती है, वैसे ही साधक के सभी जड शरीर और प्रमेय पदार्थ संविन्मय अग्नि में एकरूप होकर संविद्रूप "अहं" ही के रूप में अभिव्यक्त होने लग जाते हैं।

९. ज्ञानमन्नम्।

१. शरीरप्रमातृतायाश्चिदग्नौ विलापनेन सततगत्या चिदात्मतायामेवावतिष्ठमानस्यास्य शिवयोगिनः परिपूर्णचिदात्मक-स्वस्वरूप-विमर्शनात्मकं यच्छुद्धं विकल्पात्मकं यथार्थं ज्ञानं निरन्तरं प्रकाशते तदेवास्याप्यायन-सन्तोष-तृप्त्यादिकारित्वेनान्नं भवति। एवंविधं ज्ञानमेवासौ भुंक्ते, तदुपभोग एव च सदा रमते, तेनैव च तृप्तिं लभते।

२. एवंविधस्य योगिनः प्राक्तनं बन्धनाभिमतं परिमितं यज्ज्ञानं तदेवास्य स्वात्मसंविदि जीर्यमाणत्वेनाद्यमानमन्नं भवति।

१. जैसे साधारण प्राणी के लिए अन्न तृप्ति कारक होता है, वैसे ही शिवयोगी को सहज विद्यात्मक पारमार्थिक शुद्ध विकल्पमय ज्ञान से ही कृतकृत्यतामयी तृप्ति हुआ करती है। इस तरह से वह शुद्ध विकल्पात्मक ज्ञान ही उसके लिए तृप्ति आदि का साधन बनता हुआ उसका अन्न बन जाता है।

२. जैसे शरीर को अर्पण किया हुआ अन्न पचकर शरीर का अंग बन जाता है, वैसे ही व्यावहारिक ज्ञान को शिवयोगी अपनी संवित् के भीतर अर्पण करता हुआ उसे संविद्रूप ही बना देता है। इस तरह से व्यावहारिक ज्ञान उसके लिए अन्न बन जाता है।

१०. विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम्।

१. सहजशुद्धविद्योदयप्रभावतः प्राक् प्रभावशीलाया अशुद्धविद्यायाः संहारे—विलये

सति, शिवयोगिनस्तदुत्थस्य स्वप्नकल्पस्याशुद्धविकल्पात्मकस्य मितप्रमातृ-प्रमेय-भावादिरूपस्य संसारस्य, दर्शनम्-वास्तविकतत्स्वरूप-विमर्शनात्मकं सहजशिवमयत्व ख्यातिमयं गुरुशक्त्यनुग्रहतो भवतीति सूत्रमेतत् प्राक्तनसूत्रवत् सहजविद्योदयस्य फलमेव प्रतिपादयति, नाशुद्धविद्याप्रभावमप्राकरणिकम्।

२. कदाचिच्छुद्ध-विद्यायाः निमज्जने सति या साधकस्य गतिर्भवति, साऽनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यत इति विचारः केषामपि व्याख्यातॄणाम्। तदनुसारं शुद्धविद्यायाः संहारे-निमज्जने जनस्य तन्निमज्जनादुत्थितस्य स्वप्नस्य भेदमयस्य विकल्पप्रपञ्चस्यैव स्फुटं दर्शनं जायते, नाद्वैतस्य स्वात्मनः इति तात्पर्यं सूत्रस्य। परमप्राकरणिकमिवैतत् सूत्रं तथा व्याख्याने प्रतीयते। तदेतत् सम्यग्विचारणीयं सुधीभिः। अस्मभ्यमुपरितनमेव व्याख्यानं रोचते।

१. सहजविद्या का उदय हो जाने पर अशुद्ध विद्या का जब संहार हो जाता है तो तब उस अशुद्धविद्या से परिस्पन्दित स्वप्नतुल्य विकल्प ज्ञानों के तथा उन से सम्बद्ध परिमित प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदि के सारे ही प्रपञ्च के भी वास्तविक तत्त्वों का साक्षात् दर्शन हो जाता है; वह सारा विकल्पज्ञान का प्रपञ्च संवित् के ऐश्वर्य की लीला से ही परिस्पन्दित होता हुआ उस शुद्ध संवित् ही के रूप में साक्षात् अनुभव में आता है। स्वप्नकल्प यह संसार ही शिवरूप दीखने लग जाता है।

२. शिवयोगी का चित्त जब कभी व्युत्थान भूमि में उतर आता है, तो सहज विद्या का उस समय के लिए लोप हो जाता है। तब योगी को पुनः वही स्वप्नतुल्य विकल्पात्मक मायामय ज्ञान होने लग जाता है।

ऐसी यह व्याख्या इस प्रकरण में अनुकूल नहीं लगती है। साथ ही यह व्याख्या निर्व्युत्थान समाधि के सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है। अस्तु।

शिवसूत्र के इस द्वितीय प्रकरण में यदि शाक्तोपाय का निरूपण करना ही सूत्रकार को अभिप्रेत होता, तो इसमें भावनात्मक ज्ञानयोग का वर्णन विस्तार से किया गया होता, और उसके भेद प्रभेदों का भी दिग्दर्शन कराया गया होता। परन्तु यहां उसका थोड़ा सा उल्लेखमात्र ही मिलता है। फिर शाक्तोपाय-रूपिणी विद्या के समुत्थान को यहां भावनाभ्यास से जन्य न बताते हुए "स्वाभाविक" कहा गया है। वैसा समुत्थान तो शाम्भवयोग का ही फल होता है। मन्त्रों के विषय का निरूपण आणव उपाय का अंग होता है। वह भी इस में आना, नहीं चाहिए था। वह समुत्थान और यह मातृ-का-चक्र-सम्बोध, ये दोनों ही विषय शाम्भव उपाय के अङ्ग हैं, शाक्त के नहीं। तो इन बातों से यही सिद्ध होता है कि ऐसी योग सिद्धियां शाम्भव उपाय के अभ्यास के

आनुषङ्गिक फल हैं। मुख्य फल तो बहुत ऊंचे स्तर के हैं। वास्तविक आत्मसाक्षात्कार की परिपक्व अनुभूति तो शाम्भवयोग का ही फल होता है। मन्त्रों के विषय का निरुपण आणव उपाय का अंग है, वह भी इसमें आना नहीं चाहिए था। खेचरी शिवावस्था तथा मातृकाचक्रसम्बोध ये दोनों ही विषय शाम्भव-उपाय के अङ्ग हैं, शाक्त के नहीं। तो इस प्रकरण से भी यही बात सिद्ध हो जाती है कि शिवसूत्र ग्रन्थ का प्रकरण विभाग तीन उपायों की दृष्टि से नहीं हुआ है, अपि तु शाम्भव-उपाय के तीन स्तरों के मुख्य और आनुषङ्गिक फलों की ही दृष्टि से हुआ है।

तृतीयः प्रकाशः

(विभूतिस्पन्दाख्यः)

ऐहिकामुष्मिकाः सर्वा विभूतीर्वितरन् मुदा।
शाम्भवो ऽसौ विजयते योगः परमदुर्लभः।।

इस तृतीय प्रकरण के अनेकों ही सूत्रों की व्याख्या क्षेमराज ने विधिरूपतया की है। तदनुसार उनके विचार में यहां अनेकों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि शिवयोगी को अमुक अमुक प्रयोजन के लिए अमुक अमुक साधना का अभ्यास करना चाहिए। अतः उन्होंने अनेकों लिङ् लकार वाले क्रिया पदों की व्याख्या ''ऐसा करना चाहिए'' इस प्रकार से की है। कहीं कहीं लिङ् लकारान्त पद का अध्याहार भी इसी दृष्टि से किया है। तदनुसार उनका अभिप्राय यह है कि इस प्रकरण में आणव उपाय की साधनाओं का उपदेश है।

परन्तु भट्टभास्कर के विचार में यदि किसी सूत्र में लिङ् लकार वाला क्रिया पद है भी, तो वह शक्यार्थक या सम्भावनार्थक ही है, विध्यर्थक नहीं है। उनके विचार में चित् प्रकाश के चमक उठने पर जो शुद्धविद्या का सहज उदय हो जाता है, उसके प्रभाव से ऐसी ऐसी योग की स्थितियां शाम्भवयोगी को स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं, उसे इनके लिए कोई अभ्यास करना ही नहीं पड़ता। तो उनकी दृष्टि में शिवसूत्र के इस तृतीय प्रकरण में शाम्भवयोग से अनायास ही प्राप्त होने वाली उन उन योग स्थितियों और योगसिद्धियों के आविर्भाव का निरूपण किया गया है, जिन्हें शाम्भवयोग की विभूतियां कहा जा सकता है। तभी तो इस प्रकरण का नाम ही विभूतिस्पन्द है। शाम्भवयोग के अभ्यासियों की अनुभूति और सत्तर्क दोनों ही की दृष्टि से देखा जाए

तो भट्टभास्कर का दृष्टिकोण ही यथार्थ है।

वसुगुप्त के प्रधान शिष्य भट्टकल्लट ने भी इसी दृष्टि से अपनी स्पन्दकारिका के तीन खण्डों का नामकरण भी ऐसा ही किया है–

१. स्वरूपस्पन्दः।

२. सहजविद्योदयः।

३. विभूतिस्पन्दः।

अतः भट्टभास्कर का दृष्टिकोण ही वसुगुप्त की परम्परा का दृष्टिकोण होता हुआ विशेषतया प्रामाणिक है। फिर जैसा कि पीछे कहा गया है, सूत्रों की अनेक प्रकार की व्याख्याएं हो सकती हैं। परन्तु फिर भी सबसे अधिक मान्य व्याख्या वही हो सकती है, जो सूत्रकार की परम्परा में चली हो। वैसी व्याख्या भट्टभास्कर की ही है। अतः इस प्रकरण की टीका में विशेषतया उसी का अनुसरण किया गया है, यद्यपि क्षेमराज के मत को भी तथा अन्य अन्य सम्भव अर्थों को भी स्थान दिया गया है।

१. आत्मा चित्तम्।

१. शिवस्वरूप आत्मैव वस्तुतश्चित्तम्; न ततोऽन्यत् किमपि तत्। इत्येवं या वस्तुस्थितिः सैवानेन प्रतिपाद्यते सूत्रेण।

२. स्वात्मोन्मुखत्वे सिद्धसङ्कल्पं स्वात्मनि समाहितं चित्तं मन्त्राख्यमात्मैव, शिवभावाविष्टत्वात्। विषयोन्मुखतायामेव हि तद् व्यवहारदशायां चित्तम्। अतः समुदितसहजशुद्धविद्यस्य योगिनश्चित्तमात्मैव।

३. अत् सातत्यगमने, इत्यतनशीलः सृष्टिसंहारादिगतिशीलतया प्रवर्तमान आत्मैव जनस्य चित्तत्वेनाभासते।

४. अतनशीलं–योनेर्योन्यन्तरं गमनशीलं तु चित्तमेव पुर्यष्टकात्मकं सूक्ष्मशरीरं विषयवासनाविष्टं सत्। चित्तमय एव प्राणी संसरतीति।

१. शिवस्वरूप जो आत्मा है वही चित्त के रूप में प्रकट होता है। यही वस्तु स्थिति है जिसको इस सूत्र के द्वारा कहा गया है।

२. समाधिनिष्ठ साधक का चित्त आत्मरूप अर्थात् शिवरूप ही होता है। विषयोन्मुखता की अवस्था में ही उसे चित्त कहा जाता है। समाहितचित्त तो शिवसमावेश से ही आविष्ट होकर रहता है।

३. सतत गतिशील स्पन्दस्वभाव वाला आत्मदेव ही प्राणी का चित्त बनकर प्रकट होता है।

४. एक योनि से दूसरी योनि में जाने वाला जीव तो प्राणी का अपना चित्त ही होता है, संवित् नहीं। संवित् तो विश्वव्यापिनी है, देश की मर्यादा से परे है। अतः वह अतन (गमन) कैसे करे और कहां करे।

२. ज्ञानं बन्धः।

यद्यपि शिवस्वरूपमेव वस्तुतश्चित्तं परं तथापि विषय सम्बन्धतः क्षणे क्षणे प्रवहणशील-मशुद्धविकल्पात्मकं ज्ञानं ह्यस्य सत्यसंकल्पादिशक्तिमत्तायाः प्रतिबन्धकत्वेन बन्धरूपम्। अस्माद् बन्धादेव योनेर्योन्यन्तरमतति।

यद्यपि चित्त आत्मा ही है फिर भी वह सदा विषयोन्मुख ही बना रहता है और क्षण क्षण में उदय और लय को प्राप्त होने वाला उसका विकल्पात्मक विषय ज्ञान उसकी शिवरूपता का आवरण करता हुआ उसके लिए बन्धन बना रहता है। उसकी सत्यसङ्कल्पता का अपहरण करके उसे लगातार जन्म जन्मान्तरों में उलझाए ही रखता है। यही है परमेश्वर की संसारलीला।

३. कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया।

प्राक्सूत्रोक्तस्य बन्धरूपस्य विकल्पज्ञानोदयस्य निमित्तकारणमनेनोच्यते। "योनिवर्गः कलाशरीरम्" इत्यनेन प्राग् विकल्पज्ञानस्य मूल-भूतं स्रोतः प्रतिपादितमनेन च तात्कालिक निमित्तमुच्यते इति न पूर्वापरविरोधः कोऽपि।

बन्धस्य निमित्तं तावत् कलादिक्षित्यन्तानां तत्त्वानां स्वात्मनः सकाशादविवेकः। तेन कलादिपरिणामरूपेषु सूक्ष्मस्थूलादि-शरीरेष्वात्मताभिमानः। स चायमविवेको माया-वास्तविकस्य स्वरूपस्याख्यतिर्या मायाकार्यत्वेन मायेत्युक्ता। तेनैवाविवेकेन कारण-भूतेन बन्धात्मकस्य विकल्पज्ञानस्य प्रवहद्रूपता सततगत्या।

कला से लेकर पृथ्वी तक के तत्त्वों से बने हुए सूक्ष्म और स्थूल शरीरों को ही अपना आप समझते रहना जीव का अज्ञान है, जो मायाजन्य होने के कारण माया है। उसी कारण प्राणी अपने वास्तविक स्वरूप में और इन जड पदार्थों में परस्पर विवेक नहीं करता है; स्थूल या सूक्ष्म शरीर को ही या दोनों ही को अपना आप समझता रहता

है। उसी से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के प्रभाव से बन्धनरूपी विकल्पज्ञान के प्रवाह सतत गति से चलते रहते हैं और प्राणी के लिए बन्धन बने रहते हैं। यह सारा माया का प्रपञ्च है।

शाम्भव योगी का विकल्प-ज्ञानात्मक बन्धन कैसे विलीन हो जाता है इस बात को अगले सूत्र के द्वारा बताया जा रहा है-

४. शरीरे संहारः कलानाम्।

१. कलानां-विकल्पप्रवाहाधारभूतानां कलादिक्षित्यन्तानां तत्त्वानां तदुद्भूतानां तात्त्विकानां च पदार्थानां, संहारो-लयो भवति स्वरूपस्पन्दप्रभावतः समुन्मिषितसहज-विद्योदयस्य सुप्रबुद्धस्य शिवयोगिनः। स च कलानां लयः शरीरे— मूलभूते परे शिवे परसंविदात्मकेऽक्रमतः; निजे निजे वा कारणभूते तत्त्वे क्रमशः; देशाध्वधारणायाः स्वत एवोदये वा; निजे एव स्थूले शरीरे। एतेन सहजविद्योदयबलात् सत्यसङ्कल्पाभिव्यक्तये बन्धरूपस्याशुद्धविकल्पज्ञान- प्रवाहस्य, तत्कारणभूतस्य चाविवेकस्य मायामयस्यापि लयो भवतीति प्रतिपादितं वेदितव्यम्।

२.अविवेकस्य तत्फलभूतस्य च बन्धस्य विलापनार्थं योगिना कलादिक्षित्यन्तानां तत्त्वानां स्वे शरीरे स्थानकल्पनधारणया लयो भावनीयः, ध्यातव्यं वैवमिति केषामपि व्याख्यातॄणां मतम्।

१. स्वरूपस्पन्द के प्रभाव से समुदित हुई सहजविद्या का एक फल यह होता है कि विकल्प ज्ञानरूपी बन्धन का कारण बनने वाले मायीय तत्त्व और उनसे बना हुआ प्रपंच या तो एक-एक करके क्रम से अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते है, या सभी एक साथ ही शिवरूपिणी शुद्ध संवित् में; नहीं तो देशाध्वधारणा स्वयमेव समुदित हो जाती है, जिससे ये सभी तत्त्व साधक के स्थूल शरीर में समा जाते हैं। उससे न केवल इन तत्त्वों का ही, अपितु विकल्प परम्परा के कारणभूत अविवेक का भी लय हो जाता है। उससे योगी का चित्त सिद्ध सङ्कल्प हो जाता है और बन्धन विलीन हो जाता है।

२. बन्धन को और अविवेक को विलीन करने के लिए योगी को चाहिए कि इन कला आदि मायीय तत्त्वों को भावना ध्यान आदि के द्वारा अपने स्थूल शरीर में विलीन करने का अभ्यास करे। यह एक आणव उपाय की धारणा है, जिसके अभ्यास से योगी शाक्त उपाय के योग्य बन कर उससे इन तत्त्वों से मुक्ति पा सकता है।

५. नाडी संहार-भूतजय-भूतकैवल्य-भूतपृथक्त्वावानि।

सुषुम्नाया अन्तर्वा चिदाकाशे वा नाडीजालकवृत्तीनां निमीलनं - तत्संहारः। अथवा भावनोदये सर्वासां नाडीनां हृदयादौ संहारोऽसौ। स्वात्मनि भूतानां विलीनतापादनं भूतजयः। क्षुत्पिपासादिजयोऽपि भूतजयः। पाञ्चभौतिकात् प्रपञ्चाच्चित्तस्य प्रत्याहरणं भूत-कैवल्यम्। व्याधिप्रशमाद्यर्थं भौताच्छरीरान्निष्क्रम्यान्तर्मुख्या गत्या तदन्तःस्थे शुद्धे संवित्तत्त्वेऽवस्थानं वा, रोगाद्यंशस्यैव वा ततो निष्क्रामणं भूतकैवल्यम्। भौतिकप्रपञ्चानुपरक्त-स्वच्छ स्वच्छन्द-चिदात्मतानुसन्धानं भूतपृथक्त्वं, भूतेभ्यः पृथक्त्वमिति। एतानि सर्वाण्यपि कार्याणि चित्प्रकाश-प्रथनात् समुन्मीलित-सहजविद्योदयस्य योगिनः स्वयमेव विनापि प्रयत्नायासं सम्भवन्ति। भूतपृथक्त्वं च पृथक् पृथगेकैकस्यापि भूतस्य भौतिकस्य वा पदार्थस्य षट्त्रिंशत्तत्त्वविषयकं यत् स्वातन्त्र्यं तस्य साक्षादनुभूतिः, पाञ्चदश्यादि प्रक्रियानीत्या। तद्यद्यप्याणवोपायतो जायते येनैकैकमपि भौतिकं तत्त्वं परिपूर्ण परशिवतया भाव्यतेऽनुभूयते च तथा, परं तथापि शाम्भवयोगाभ्यासिनस्तथा संवेदनं, विनापि भावनाद्यायासं, स्वत एव स्वरसतः समुदेति। आणवोपायसिद्धयस्तस्य स्वयमेवाविर्भवन्ति।

व्याख्याकारान्तरमतानुसारमेतानि चत्वार्यपि योगिना बन्धन-रूपस्य विकल्पज्ञानस्य प्रहाणये भावनीयान्याणवोपाय-विधिना।

केषामपि मतेऽत्र नाडी-संहारः शैवः प्राणायामः, भूतजयश्च भूतानां धारणाभिर्वशीकारः भूतकैवल्यं पुनः प्रत्याहारो, भूतपृथक्त्वं च समाधिरिति तावदङ्गान्याणवोपायस्य यानि शिवयोगिनाभ्यसनीयानि विकल्पहानिसिद्ध्यर्थमिति गुरुपदेश परम्परारहितं सर्वम्।

सुषुम्ना नाडी के भीतर अथवा चिदाकाश के भीतर नाडियों की वृत्तियों को विलीन करना नाडी संहार कहलाता है। अथवा समस्त नाडी-चक्र का उन दो में से किसी एक में भावना के द्वारा क्रम से या अक्रम से संहार करना भी नाडी-संहार कहलाता है। वह शिवयोगी को सहजविद्या के उदय के प्रभाव से स्वयमेव भावना के अभ्यास के विना ही हो जाता है। फिर वह पांचों भूतों को और सभी भौतिक पदार्थों को अपने ही अपरिमित संवित्स्वरूप में समा लेता है। अथवा भूतों का जो स्वभाव होता है-क्षुधा, पिपासा आदि, उसे शिव योगी सहज विद्या के बल से जीत लेता है। इसे भूत जय कहते हैं।

पांच-भौतिक शरीर से अपने आप को खींच लेना, अथवा शरीर में से रोग आदि अनिष्ट अंश को दूर हटाकर उससे रिक्त कर देना भूत कैवल्य होता है। फिर अपने आप को पांच-भौतिक शरीर से उत्तीर्ण शुद्ध संवित् स्वरूप ही समझना भूतपृथक्त्व कहलाता

है

सारे सूत्र का तात्पर्य यह है कि सहजविद्या के उदय होने पर उसके प्रभाव से शिवयोगी को उपरोक्त चारों सिद्धियां अनायास ही विना किसी भी धारणा का अभ्यास किए ही स्वयमेव उद्बुद्ध, हो जाती हैं।

अन्य व्याख्याकारों के अनुसार योगी को आणव उपाय की साधना में इस प्रकार के अभ्यासों को करते रहना चाहिए, तभी वह अशुद्ध विकल्पों के जालों से मुक्त हो सकता है।

कुछ एक व्याख्याकारों की दृष्टि में नाडी संहार एक विशेष प्रकार का प्राणायाम होता है; वे भूत कैवल्य का तात्पर्य प्रत्याहार बताते हैं और उनके विचार में भूत पृथक्त्व का अभिप्राय समाधि है। अस्तु।

६. मोहावरणात् सिद्धिः।

मोहावरणात्— प्रागनन्तरं चेत्यत्र शेषतया योज्यम्। आवरणकारणभूतानां मोहमयीनां लौकिकसिद्धीनामुदयात् प्राक् तासां लयाच्चानन्तरं आद्यन्तकोटी योगिनः परैव सिद्धिः सहजविद्योदयबलाद् भवति। कामक्रोधादयोऽपि मोहशब्देनात्र गृह्यन्ते। ते च प्राक्तन-संस्कारशेषतया योगिनि विद्यन्त एव शरीरान्तं यावत्, समुदयन्ते च निजनिज-कारण-वशाल्लोकव्यवहारे। सिद्धसङ्कल्पस्यास्य योगिनस्ते मोहमया व्यवहारा अपि सदा सफला भवन्ति। परं नासौ तेषु सक्तो भवति। पूर्वापर-कोट्योः स्वस्वरूपे एव तिष्ठन् न मुह्यति वस्तुतः। प्रत्युत निजं सिद्धसङ्कल्पत्वं साक्षात् पश्यति। तेन मोहावरणादप्यस्य शिवयोगिनः परैव सिद्धिः। नासौ परा सिद्धिर्मोहावरणेनाव्रियते। परं प्रबुद्धस्यैव योगिन एवं भवति, न बुद्धस्य, अबुद्धस्य तु का कथा।

व्याख्यान्तरं सूत्रस्य—मोहेनावृतस्य योगिनस्तत्कृतादावरणात् प्रागुक्तेन धारणा-क्रमेणासादिता सिद्धिस्तावत् तत्तद्भोगमय्यपरैव सिद्धिर्भवति न परा सिद्धिरिति।

१) स्वरूप को ढक कर रखने वाली काम क्रोध लोभ आदि को सफल बनाने वाली मोहमयी सिद्धियों से भी शिवयोगी को स्वरूप-साक्षात्कारमयी परासिद्धि ही प्राप्त होती है। उन सिद्धियों से उसे अपनी सत्यसङ्कल्पता का अनुभव होने से अपनी शिवता पर विश्वास पक्का हो जाता है। फिर उन मोहमयी सिद्धियों का उदय भी उसी परसिद्धि के प्रभाव से उसे हो जाता है। उन सिद्धियों का उदय और पर्यवसान भी पर सिद्धि में ही

होता है। इस तरह से आदिकोटि और अन्तकोटि में परसिद्धि ही चमकती रहती है। परन्तु ऐसी बात प्रबुद्ध योगी को ही होती है, बुद्ध और अबुद्ध को नहीं।

२) मोह के द्वारा किए गए स्वरूप के आवरण के कारण योग के अभ्यासी को अवर सिद्धियां ही प्राप्त होती हैं, स्वरूप लाभ नहीं होता है। अतः मोह को नष्ट करना आवश्यक होता है। उसका नाश उपरोक्त आणव योगमयी धारणाओं से होता है।

७. मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः।

मोहकृते आवरणेऽप्रनष्टेऽपि पराा सिद्धिस्तावत् प्रबुद्धस्य शिवयोगिनः पूर्वसूत्रेण प्रतिपादिता। अनेनैतदुच्यते यत् सुप्रबुद्धस्य तस्य मोहजयोऽपि हस्तगतो भवति, तेन च तस्य सहजविद्यायाः जयः। तस्य सहजा विद्यैव सर्वास्वप्यवस्थासु सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति। पूर्वत्र सहजविद्यायाः प्रख्यातिमात्रमुक्तम्, अत्र पुनः सर्वत उत्कर्षोऽपि। मोहस्तावदनन्तप्रकार-कोऽतिविस्तीर्णः; तेन मोहजयोऽप्यनन्तप्रकारक एवेत्यनन्ताभोगादित्युक्तम्। आभोगो विस्तारः। अनन्ताभोगत्वं पारिपूर्ण्यम्। एवंविधायाः सहजविद्यायाः परमा प्रकृष्टा च रूढिश्चित्स्वरूप-प्रकाशतोऽनायासमेव भवति शिवयोगिनः।

व्याख्यान्तरम्—आणवोपायाभ्यासतः संस्कारप्रशमपर्यन्तोऽनन्तविस्तारो मोहजयो विजृम्भते शिवयोगिनः। तस्य प्रभावेण शाक्तोपायोचितः सहजविद्याजयोऽपि भवति तस्य क्रमेण।

१) सुप्रबुद्ध योगी को तो मोहजय स्वतः हाथ में आ जाता है। वह उसकी सहज विद्या की ही जीत होती है। मोह तो अनन्त प्रकार का होता है। अतः मोहजय के भी अनन्त ही प्रकार होते हैं। अनन्ताभोगता का तात्पर्य है परिपूर्णता। सहजविद्या का एक ऐसा चमत्कार शिवयोगी को चित्प्रकाश की दीप्ति की महिमा से हो जाता है कि अनन्त प्रकार का उसका मोह विना आयास के स्वयमेव उड़ जाता है।

२) आणवोपाय के अभ्यास का यह फल होता है कि अनन्त प्रकार का अति विस्तृत मोह क्षीण होता हुआ समाप्त हो जाता है। उससे शाक्त-उपाय रूपी सहजविद्या को योगी क्रम से हाथ में ले आता है।

८. जाग्रद्द्वितीयकरः।

(१) जाग्रत् पदेनात्र ज्ञानशक्तिरभिप्रेता। ज्ञानशक्तिरूपे करेऽवस्थापितं विश्वमभेदेन

पर्यालोच्यतेऽनेन सञ्ज्ञातसहजविद्योदयेन योगिना। ततः शुद्धविकल्पात्मकेन ज्ञानेन द्वितीयकरस्थानीयेन सर्वं स्वात्मतया तेन गृहीतं भवति। ततस्तस्य ज्ञानं तस्य प्रसिद्धाद्धस्तेन्द्रियादपरः करो, विचित्रः कर इवेति। जाग्रदुचितेन विकल्पज्ञानेन सर्वं गृहीत्वा शुद्धेन विकल्प-ज्ञानेन स्वात्मतया तद्विमृशन् सुतरां गृह्णातीति तज्ज्ञानं तस्य द्वितीयं हस्तेन्द्रियम्।

(२) व्याख्यान्तरम्—शुद्धविद्यायां जागरूको योगी स्वापेक्षया द्वितीयं भिन्नम् इदन्तया विमृश्यं वस्त्ववस्तुरूपं वेद्यजातं स्वकरतया-स्वरश्मितया पश्यति। विश्वमस्य स्वदीधितिकल्पं स्फुरति। तेन पारमार्थिके सत्ये जागरूकस्य तस्य यद् द्वितीयम्—भेदेनावभासमानं जगत्तत्तस्य करः—रश्मिप्रवाहो बहिर्मुख इति। तथाविधोऽसौ शिवयोगी भवतीति।

(१) जाग्रत् पद से यहां अभिप्राय है ज्ञानशक्ति। ज्ञानशक्ति ही शिवयोगी का एक अतिरिक्त तथा अनोखा हाथ बन जाता है, जिससे वह प्रत्येक प्रमेय-विषय को अपने आप के रूप में ही पकड़ता रहता है। ज्ञान शक्ति उद्बुद्ध होकर उसके शुद्ध विकल्पमय यथार्थ ज्ञान के रूप को धारण करती है और उसे सर्वत्र "अहं" का ही बोध करा देती है। उससे वह समस्त प्रपञ्च के भीतर अपने आप को ही देखने लग जाता है।

(२) शुद्ध विद्या के क्षेत्र में सदा जागरूक योगी अपने से भिन्न वस्तुसमूह को अपने कर, अर्थात् अपनी किरणें ही समझने लग जाता है।

९. नर्तक आत्मा।

जाग्रत्प्रपञ्चे शिवव्याप्तिनिष्ठस्य योगिनो दृष्टौ तस्यात्मा नर्तकः—तत्तद्विचित्र-प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृ-क्रिया-ज्ञानकलापात्मकस्य दृश्यजातस्याभिनये सुनिपुणो नट इवेति। नटवदन्तर्निगूहित स्वतत्त्वोऽसौ स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वात्मप्रकाशरूपे रङ्गे ज्ञानसुखादि-नीलपीतादि-विचित्रविषयकं व्यवहारजातमखिलं नटवदेवाभिनयति। तदसावत्र सूत्रधारः।

समस्त प्रपञ्च में शिवता की व्याप्ति को देखता हुआ योगी अपने आप को ज्ञान और क्रिया की अनन्त प्रकार की लीला का अभिनय करने वाले नट के ही रूप में देखता है तथा अपने समस्त व्यापारों और व्यवहारों को नाट्यकला के अभिनय ही की दृष्टि से देखता है। नट की तरह अपने वास्तविक तत्त्व को अपने भीतर ही छिपाए रखता हुआ बाहिर से अनेक प्रकार के अभिनय को दिखाता रहता है। सहज विद्या के उदित हो जाने पर योगी को ऐसा ही प्रतीत होने लगता है कि वास्तविक आत्मदेव ही प्रमाण-प्रमेय आदि की नाट्यलीला का सूत्रधार है।

१०. रङ्गोन्तरात्मा।

लौकिकव्यवहारात्मकनाट्यलीलासूत्रधारस्यात्मनोऽन्तः पुर्यष्टकप्राणशून्यसम्भेद-मयमहंस्वरूपं यज्जीव इति प्रसिद्धं मितप्रमातृरूपं, तदेव रङ्गभूमिर्यत्रासौ प्रमाणप्रमेया-दिव्यवहारनाट्यमभिनयति नटवत्।

सहज-विद्या के जय से शिवयोगी अपनी पारमैश्वर्यमयी नाट्य-लीला के अभिनय में अपनी जीवभावमयी स्थिति से ही रङ्गभूमि का क़ाम लिया करता है; अर्थात् जीवभाव में ही शिवभाव के आनन्द का अनुभव करता रहता है।

११. प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि।

समुदितसहजशुद्धविद्यस्य योगिनः इन्द्रियगणस्तस्य प्रमाण-प्रमेय-प्रपञ्चव्यवहारभूतस्य नाट्यस्य दर्शनं कुर्वन्, नाट्यलीलावदेव तत् साक्षात्कुर्वन् नैव कदाचिदप्यशुद्धविकल्प-जननेन तस्य स्वरूपस्यावरणं करोति। किञ्च-संसारनाट्य-लीला-चमत्कारनिर्भरं तस्य स्वरूपमेव साक्षात्कुर्वन्ति तस्येन्द्रियाणि। यद्यद् गृह्णन्ति तत्तत् संवित्स्वरूपस्यात्मनो नाट्यलीलाभिनयमयमेव कलयन्ति, प्रत्यक्षं च संविदात्मनो वैभवं परमेश्वरतात्मकं प्रत्यक्षाद्वैतदृशा साक्षात्कुर्वन्तीति।

योगी का अपना आप ही मानो एक महानट है। उसकी लोकव्यवहाररूपिणी नाट्यलीला के अभिनय को देखने वाले सामाजिक उसके अपने इन्द्रिय हैं। ऐसा योगी को सहजविद्या के उदय के प्रभाव से दीखता है। तब उसके इन्द्रिय विकल्प-ज्ञानरूपी बन्धन को जन्म न देते हुए प्रत्यक्ष-अद्वैत को ही चमकाते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि योगी को इन्द्रियों के द्वारा सर्वत्र अपनी ऐश्वर्यमयी लीला का ही दर्शन होने लग जाता है।

१२. धीवशात् सत्त्वसिद्धिः।

लब्ध-सहजविद्योदयस्य शिवयोगिनो बुद्धिस्तावद् ऋतम्भरैव प्रज्ञा। तस्याः सामर्थ्येन तस्य योगिनः सत्त्वसिद्धिः—वास्तविकस्य सत्त्वस्य पारमैश्वर्यशक्तिविलासबृंहितस्य शुद्धसंविन्मात्रस्वरूपस्य सत्यतत्त्वस्य सिद्धिर्भवति। ऋतम्भरया निजप्रज्ञयासौ सर्वं भावाभावमयं पदार्थजातमनवच्छिन्नस्वात्मसंविन्मयमेव विमृशति। एवंविधेन परविश्रान्तिप्रदेन विमर्शेनैवात्र नाट्यलीलायां तस्य सात्त्विकभावसिद्धिर्यया स्वात्मसाक्षात्काररसस्योद्दीप्तिर्भवति तस्य सदा।

सहजविद्या के प्रभाव से योगी की बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा बन जाती है और उसी के

सामर्थ्य से उसकी लोकव्यवहाररूपी नाट्यकला में सात्त्विक भावों की कमी पूरी हो जाती है। वह प्रत्येक विषय को संविन्मय ही देखता हुआ एक तो वास्तविक तत्त्व का विमर्शन करता रहता है तथा दूसरे उसके वैसे विमर्शन से उसके आत्म-आनन्द का चमत्कार उसी तरह से प्रदीप्त होता रहता है, जिस तरह से नाट्यलीला में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों से रस की अभिव्यक्ति उत्कर्ष को प्राप्त करती है।

१३. सिद्धः स्वतन्त्रभावः।

एवं दर्शिनः एवं विमर्शपरस्य च तस्य योगिनः यथेच्छं सर्वज्ञानक्रियासम्पादनसामर्थ्यरूपः स्वतन्त्रभावः-स्वातन्त्र्यात्मको भावः स्वतन्त्रस्य वा भावः परमस्वातन्त्र्यात्मको भावः सिद्ध एव भवति, न कथमपि साधनीयो भवतीति। सकलज्ञानक्रियास्वातन्त्र्यं विश्ववशीकारश्च तस्य विनायासं सिद्धौ भवतः।

इस प्रकार की दृष्टि से देखने वाले और ऐसी दृष्टि से विमर्श करने वाले शिवयोगी को अपनी स्वातन्त्र्यरूपिणी जीवन्मुक्ति स्वतः सिद्ध हो जाती है। उसके लिए उसे कोई भी यत्न करना नहीं पड़ता है। सारा ही प्रपञ्च भी उसके वश में आ जाता है। अर्थात् विश्व-वशीकार की सिद्धि उसे आ जाती है। वह जो चाहे उसे जान सकता है और कर सकता है।

१४-१. यथा तत्र तथाऽन्यत्र।

तस्यासौ स्वतन्त्रभावो न केवलं स्वके एव शरीरे आविर्भवति, अपितु सर्वत्र एव। यस्य कस्यापि प्रमातुर्येन केनापि स्थूल-सूक्ष्मेण शरीरेण यद्यज्ज्ञातुं कर्तुं वेच्छति तत्तत्तेन तेन जानाति करोति च स्वशक्त्या। किञ्च न केवलं समावेश दशायामेव तस्य स्वतन्त्रभावः समुद्दीप्तो भवति यावदन्यत्र व्युत्थानसम्मतासु जागरादिदशास्वपि सर्वत्र प्रकाशते स्पष्टम्। जागरादिव्यवहारं सम्पादयन्नपि स्वाभाविकात् पूर्णात् स्वातन्त्र्यान्न च्यवते।

उस का ऐसा स्वातन्त्र्य न केवल अपने शरीर में ही अभिव्यक्त होता है, अपितु सर्वत्र होता है। वह जिस किसी भी शरीर से जो कुछ भी जानना या करना चाहे, वह सब कुछ जान और कर सकता है।

फिर केवल समावेश की दशा में ही नहीं, अपितु लोकव्यवहार की दशाओं में भी उसका पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य चमक उठता है। जाग्रत, और स्वप्न, में भी तथा सभी सांसारिक व्यवहारों में भी जो चाहता है उसे जान सकता है और कर सकता है।

१४-२. विसर्गस्वाभाव्यादबहिःस्थितेस्तत्स्थितिः।

विसर्गस्वाभाव्याद्-विसर्गस्यापि स्वभावतः प्रकाशैकरूपत्वादिति। अथवा विसर्गस्य परमेश्वरस्वभावत्वेन परमेश्वरात्मकत्वात् इति। अबहिः स्थितेः—प्रकाशान्तरेव स्थितेः। तत्-स्थितिः = तस्मिन् प्रसिद्धतमेऽकालकलिते प्रकाशे तस्य—स्रक्ष्यमाणत्वेनान्तः सृष्टस्य स्थितिः सदा सिद्धा। ततो न किमपि तस्य कृते परशरीरम्, सर्वं यतस्तस्यात्मैव। तस्य योगिनो दृष्टौ बाह्यपदार्थानां संविदः पृथक्त्वेन स्थितेरभावतः स्वस्माद्धाम्नः प्रच्यावो नास्ति। उपर्युक्तासावन्तःसृष्टिस्तस्याकालकलितैव वेद्या। अन्येषु शरीरेषु ज्ञानक्रिया स्वातन्त्र्यं निभालयन्नपि वस्तुतः स्वात्मन्येव तत् समाचरति। तस्य-तस्य परशरीरतया मतस्याप्यस्य स्वात्मसंविदन्तः स्थितत्वादनन्यत्वमेव यतः।

सृष्टि भी तो वस्तुतः प्रकाशरूप संवित् का स्वभाव ही है और परमेश्वर का स्वभाव होने से परमेश्वर रूप ही है। तो इसकी स्थिति संवित् स्वरूप स्वात्मदेव के भीतर ही है। अतः स्रष्टव्य जगत् सारे का सारा ही कालकलना से रहित संवित्-प्रकाश में ही सदा विद्यमान रहता है। तो शिवयोगी के लिए पर शरीर भी स्वात्मरूप ही होता है। अतः उन उन शरीरों के द्वारा भी जो कुछ चाहे सो जान सकता है और कर भी सकता है।

शिवयोगी की दृष्टि में बाह्य पदार्थों की स्थिति उसके संवित् प्रकाश के भीतर ही होती है, अतः वह अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता है। उसके भीतर विद्यमान पदार्थ सृष्टि कालकलना से रहित होती है।

१५. बीजावधानम्।

१) जाग्रदाद्यवस्थासु परशरीरादौ च यत्तस्य स्वातन्त्र्यं तत् कथं सिद्ध्यतीति जिज्ञासायामुच्यते—यतस्तस्य सर्वेषु करणव्यापारेषु बीजे परमशिवात्मके चिदानन्दघने परे स्पन्दतत्त्वे एवावधानं भवति, तस्यैव विमर्शनं भवति चित्प्रकाशमाहात्म्यबलात्। स हि घटादि सुखादि वा गृह्णन्नपि सर्वस्य बीजभूते पर एव तत्त्वे सावधानो भवति, रत्नज्ञ इव रत्न माहात्म्ये। तेन पर तत्त्वेऽवधानेनैव तस्य सार्वत्रिकं स्वातन्त्र्यमनायाससिद्धम्।

२) अन्ये तावदेवं व्याकुर्वते—तस्य सार्वत्रिकस्य स्वातन्त्र्यस्य सिद्धये योगिना बीजभूते परे शाक्ते स्पन्दे अवधानं—तद्विषयकं सतत-विमर्शनं भावनया कर्तव्यमिति विध्यर्थकं सूत्रम्। कार्यमिति पदमध्याहार्यम्।

१) बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों के व्यापारों के चलते रहने पर भी उत्कृष्ट शिवयोगी

की अवधान दृष्टि सदैव उन विषयों के मूलकारणरूपी शुद्ध संवित्स्वरूप चिदानन्दघन परमशिवतत्त्व की ही ओर लगी रहती है, अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर विषयों के विकल्पात्मक ज्ञान के अवसर में भी शिवयोगी उन-उन विषयों के मूल कारण रूपी परतत्त्वों के ही प्रति सावधान बना रहता है, उससे उसकी स्वतन्त्रता सर्वत्र चमकती ही रहती है। क्योंकि वह जड-पदार्थों को भी परमशिव ही के रूप में अपनी अवधानमयी दृष्टि से देखता रहता है। यह उसके चित्प्रकाश की दीप्ति का एक फल है।

२) उस सार्वभौम स्वातन्त्र्य की सिद्धि के लिए योगी को उस शाक्तस्पन्द पर सावधान रहने का अभ्यास करते रहना चाहिए जिसमें से सारे विश्व की सृष्टि हुआ करती है।

१६. आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति।

असौ प्राप्तसहजविद्योदयो योगी परे वा शाक्तबलात्मके आसने, उदानाख्य-प्राणात्मके वाऽऽसने स्थितो-विश्रान्तः सन् मूलतत्त्वेऽवधानतस्तदन्तःप्रवेशतश्च सुखं-प्रत्याहारादिकष्ट-साधनाभ्यासक्लेशराहित्येन स्वत एवानायासं ह्रदे—परसंवित्समुद्रे चिदानन्दलहरीमनोरमे निमज्जति-तदन्तर्विलीन इव भवँश्चिदानन्दमयतामेवापन्नो भवति। देहादिसङ्कोचसंस्कारमपि तत्रैव निमज्जयति।

attention, attentiveness

सहजविद्या के बल से मूलतत्त्व पर अवधान दृष्टि को जमाता हुआ और उसके साथ एक हो जाता हुआ शिवयोगी अपने मूलभूत शाक्तबल रूपी आसन पर अथवा उदान नामक प्राणरूपी आधार पर आरूढ होकर, अर्थात् उसी पर विश्रान्त होकर विना ही प्रत्याहार आदि के कष्ट को झेले, आराम से स्वयमेव परसंवित्-समुद्र रूपी परमशिवतत्त्व में अन्तर्लीन हो जाता है। देह आदि के सम्बन्ध से होने वाले सङ्कोच के संस्कार को भी वहीं डुबो देता है।

१७. स्वमात्रा निर्माणमापादयति।

स्वतन्त्रा ज्ञत्व-कर्तृत्व-लक्षणा परशिवस्यात्मभूता पराशक्तिरेव विश्वनिर्मात्री सती मातेत्युक्ता। तया मात्रा-अनिरुद्धया निर्माण-शक्त्या, उद्बोधं सम्प्राप्तया शिवयोगी यथेच्छं भावनिर्माणं करोति सहजविद्योदयसमुत्कर्षवशात्। शिववदसौ स्वेच्छया सृष्टि-संहारादि कर्तुं समर्थो भवतीति।

विश्व का निर्माण करने वाली पारमेश्वरी शक्ति को यहाँ माता कहा गया है।

सहजविद्या का उदय हो चुकने पर शिवयोगी की वह अपनी शक्ति रूप विश्वमाता उद्बुद्ध हो जाती है। उससे वह अपनी इच्छा के अनुसार भावों के सृष्टि-संहार आदि को करने में समर्थ बन जाता है, चाहे उन्हें करे या न करे।

१८. विद्याविनाशे जन्मविनाशः।

१) शुद्धविद्यायाः सहजोदयस्य बलेन तस्य योगिनो विद्यायाः-कञ्चुकात्मिकाया अशुद्धविद्याया बन्धरूपाया विनाशे जाते सति तस्य जन्मनः-पुनर्जन्म-जरा-व्याधि-दुःख-प्रभृति-भरितायाः संसृतेरेव विनाशो-अदर्शनं भवति, येनासौ जीवन्नेव मुक्तो भवति, शिवभावचमत्कारं चास्वादयति।

२) अपरोऽत्र व्याख्याप्रकारः केषाञ्चित्, विद्यायाः-यथार्थज्ञानरूपायाः शुद्धविद्याया, अविनाशे-पुनर्निमीलनाभावे सति जन्ममरणरूपायाः संसृतेर्विनाशो भवति शिवयोगिनः। अत्र व्याख्याप्रकारे तस्याः शुद्धविद्याया विनाशोऽप्याशङ्क्यते सम्भाव्यते वा, यदभावे सति जन्मविनाशः। परमात्मस्वभावभूतस्य शिवत्वस्य सकृद्विभातत्वेन शुद्धविद्यायाः विनाशो नैव सम्भावयितुं शक्यते शिवयोगिनः कृते। ततः कथं तदाशङ्क्येत इति चिन्तनीयम्।

तेन तद्भावे सति जन्मनोऽविनाशोऽपि सम्भाव्येत। तथाविधा सम्भावना च तैर्ध्वनिताऽग्रे "मध्येऽवरप्रसरः" इत्यस्य "नष्टस्य पुनरुत्थानम्" इत्यस्य च पदसन्दर्भस्य व्याख्यावसरे।

१) सहज विद्या के बल से जब साधक की प्राक्तन अशुद्ध विद्या का नाश हो जाता है, तो वह पुनः जन्म-मरण रूप संसृति से छुटकारा पा लेता है।

२) शुद्ध विद्या के प्रवाह के चलते रहने से, संसृति का विनाश तो हो जाता है यदि उस शुद्ध विद्या का पुनः तिरोधान न होने पाये। परन्तु एक बार अपना शिवभाव शुद्ध विद्या से चमक उठे तो उसके पुनः तिराधान होने की आशङ्का ही कैसे की जा सकती है ?

१९. कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः।

१) मातृकायाः कादिक्षान्तेष्वष्टसु वर्गेषु माहेश्वर्याद्या मातरो यास्ताः पशुवर्गाधिष्ठात्र्यो भवन्ति। ताश्च माहेश्वरी, ब्राह्मी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा, वागीशी चेति। ताश्च प्रत्येकमघोर-घोर-घोरतरनामसु त्रिषु वर्गेष्ववस्थिताः सत्यो विविधैर्विकल्पमयैर्ज्ञानैः पशूनां वास्तविकस्य संविदात्मकस्य स्वरूपस्य, स्वातन्त्र्यात्मकस्य चैश्वर्य-भूतस्य स्वभावस्यावरणं कुर्वत्यः सर्वस्मिन् प्राणिनिकायेऽधिष्ठातृतया स्थिताः सर्वं तेषां व्यवहारजालं

सञ्चालयन्ति प्रवर्तयन्ति च सर्वान् पशुप्रमातृन् सांसारिके व्यवहारे।

यद्यपि ताः पशुमातरः विकल्पजालोद्भवकारिण्यः सर्वत्र स्वं प्रभावं प्रकटयन्त्यः सर्वस्मिन् भुवनमण्डले सर्वत्र निजकार्यरताः वर्तन्ते, तथापि प्राप्तसहजविद्योदयस्य शिवयोगिनः स्वरूपं स्वभावं वा न तिरोधातुं शक्नुवन्ति, यतस्तेन त्रिष्वपि घोरादिमातृवर्गेषु चतुर्थं परिपूर्ण शिवभाव-प्रधानमवर्गात्मकं संविद्धनं तत्त्वमाषेच्यम्-आसेक्तुं शक्यं भवतीत्यग्रिमेण सूत्रेणास्यान्वयः।

(२) व्याख्यान्तरानुसारं - शुद्धविद्याप्राप्तावपि योगिनः प्रमादादिकारणात् कदाचित् पशुमातरोऽघोराद्यास्तं पुनर्मोहयन्ति ; तन्निवारणाय च तेन त्रिषु जागरादिषु पदेषु, चतुर्थं तुर्यचैतन्यमाषेच्यमिति विधिपरं सूत्रम्।

१) कवर्ग से लेकर क्षवर्ग तक के आठ व्यञ्जन वर्गों की अधिष्ठातृ देवियां आठ मातृकाएं होती हैं। वह आठों अघोर, घोर और घोरतर शक्तिसमूहों के रूप में प्रकट होकर पशु-प्रमाताओं में विकल्पात्मक ज्ञान के प्रवाहों को उत्पन्न करती हुई उनके वास्तविक स्वरूप को ढक कर रखती हैं।

परन्तु फिर भी शिवयोगी को जब सहजविद्या का उदय हो जाता है, तो वह इन आठों वर्गों के भीतर शिवात्मक अवर्ग को ही व्याप्त होकर ठहरा हुआ जो देखता है, तो उसके स्वरूप का या स्वभाव का आवरण यह मातृकाएं नहीं कर सकती हैं। अगले सूत्र के साथ इस सूत्र को जोड़ कर इस पर विमर्श करने से ऐसा अर्थ सिद्ध हो जाता है।

२) शुद्ध विद्या के उदय हो जाने पर भी यह हो सकता है कि प्रमाद होने के कारण कभी मातृकाएं सिद्धयोगी को भी घेर लेवें। अतः उनके प्रभाव से बचने के लिए शिवयोगी को जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं पर चौथी तुर्या अवस्था का सेचन करना चाहिए। उसके अभ्यास से मातृकाएं उसे छेड़ती ही नहीं। ऐसा तात्पर्य अगले सूत्र के साथ जोड़ने पर सिद्ध हो जाता है।

२०. त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्।

१) त्रिषु घोरादिवर्गभिन्नानां मातृकाणां व्यूहेषु चतुर्थं शिवभावचमत्कारात्मकं मातृकाणां वास्तविकं तत्त्वं तैलवदासेच्यम्—आसेक्तुं शक्यं भवति शिवयोगिनेति शक्यार्थे लिङ्। तेनाघोरादिशक्तिव्रातैः सञ्चाल्यमानेषु मायीयेषु व्यवहारेषु प्रचलत्स्वपि, घोरादिषु च मातृका-व्यूहेषु तिरोधत्स्वपि प्राणिवर्गस्य स्वरूपं, शिवयोगिनो नैव पुनः स्वरूपस्यावरणं भवति;

यतस्तेन त्रिष्वपि जागरादिषु तुर्यचैतन्यात्मकं संवित्तत्त्वमासेक्तुं यतः शक्यमित्त्येवमपि व्याख्यायते सूत्रमेतत्। यथा हि तैलमासिक्तमन्तर्बहिर्वस्तु व्याप्नोति, तथा तुर्या संवित् परा वा शिवशक्तिस्तत्र तत्र व्यापकत्वेन साक्षात्कर्तुं शक्या शिवयोगिभिः।

(२) व्याख्यान्तरमत्र-पूर्वसूत्रोक्तस्य पशुमातृभिर्विधीयमानस्य स्वरूपावरणस्य निवृत्तये साधकैस्त्रिषु जागरादिषु चतुर्थं तत्त्वं तुरीय-चैतन्यं तैलवदासेच्यम्। यथा तैलं बिन्दुमात्रमपि जलस्योपरि प्रक्षिप्तं सत् सर्वत्र तूर्णं प्रसरति, तथैव तैः स्वकीया तुर्यात्मिका संविज्जाग्रदादिषु त्रिषु प्रसारणीयाऽभ्यासेन, येन ताः अपि दशास्तुर्यरससंसिक्ततामापद्येरन्। चिद्रसस्याश्यान-भावेन या त्रयस्य जागरादेरवस्थितिस्तां भेदप्रथाप्राणां सम्यग् विलाप्य पुनश्चिद्रस-संसिक्ततानुसन्धेया भवति योगिनेति विधीयतेऽनेन सूत्रेणेति तात्पर्यम्।

१) शिवयोगी तीनों ही अघोर आदि शक्तियों पर शिवभाव चमत्कारमय मातृका-तत्त्व का सेचन कर सकता है। उससे मातृका वर्गों के द्वारा चलाए जाते हुए विकल्पमय व्यापारों के चलते रहने पर भी शिवयोगी के स्वरूप का आवरण नहीं होने पाता है; क्योंकि वह इन तीनों शक्तिसमूहों के ऊपर और उन से प्रकट होती हुई जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं पर शुद्ध संवित्स्वरूपा तुर्यचेतना का उस तरह से सिञ्चन कर सकता है, जिस तरह से कोई पानी पर तेल का सिञ्चन करे। सींचा हुआ तेल वस्तु को भीतर बाहर से व्याप्त करके उसके अंश-अंश को स्निग्ध बना देता है। परा शक्तिमयी तुर्यचेतना भी समस्त प्रपंच को व्याप्त करके उसे तुर्यचेतना ही के रूप में चमका देती है।

(२) परा मातृकाओं के द्वारा किए जाते हुए स्वरूप-आवरण का निवारण करने के लिए शिवयोगी को चाहिए कि वह तीनों ही जाग्रत् आदि अवस्थाओं के ऊपर चौथी तुर्यावस्था का उस तरह से सिञ्चन करे कि जैसे पानी पर छिड़का हुआ तेल उस के ऊपर आठों दिशाओं में फैलकर तुरन्त उसे ढक लेता है। उसी तरह से योगी की तुर्य चेतना भी तीनों ही जाग्रत् आदि को अपने प्रकाश से ढक लेवे। ऐसा अभ्यास उसे करते ही रहना चाहिए।

२१. मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत्।

१) विषयाकारतां चित्तस्य प्रत्याहृत्य निमेषवशतः स्वात्मन्येव मग्नः कृष्णाङ्गारेषु बह्निरिव वर्णेषु (कादिषु) स्वात्मचमत्कृतिचर्वणपरेण चित्तेन प्रविशेदसौ प्राप्तसहज-विद्योदयो योगी। प्रविशेदिति सम्भावनायां वा शक्यार्थे वा लिङ्। अथवैवंविध-चमत्कारोद्दीप्तिमिच्छन् प्रविशेदिति विधिः। वर्णानुप्रवेशे च सति संसिद्धया भैरवीयमुद्रया

मन्त्राद्यनुप्राणनं तस्य सिद्धयेदित्यत्रापि पक्षे शक्याद्यर्थ एव लिङ्। तेन च त्रिष्वपि पदेषु शिवतैव प्रथतेऽस्य योगिनः।

२) व्याख्यान्तरानुसारं-संवित्स्वरूपे मग्नः शरीरादिप्रमातृतां चिच्चमत्काररसेऽभ्यासतो निमज्जयन् अविकल्पकरूपेण शिवभावे समाविशेदावरणहानये इति विध्यर्थे लिङ्।

१) विषयों के आकारों को ले लेकर उन-उन रूपों में प्रकाशित होते रहने वाले अध्यवसायात्मक व्यापार से चित्त को खींच कर शिवयोगी उस तरह से ककार आदि मातृका-वर्णों में अन्तः प्रवेश कर सकता है और करने लगता है, जिस तरह से आग सूखे कोयलों में प्रवेश करती है। तब भैरवी मुद्रा के द्वारा वह समस्त वर्णों में शिवशक्ति को चमकाता हुआ उनमें वीर्य का उद्बोधन कर सकता है। उससे उस शिवयोगी को जाग्रत् आदि तीनों ही अवस्थाओं में शिवता की ही प्रथा उद्बुद्ध होती रहती है।

२) शिवयोगी को अपने स्वरूप के आवरण को हटाने के लिए संवित्-स्वरूप में निमग्न होकर शरीर आदि की प्रमातृता को चिद्रूपता के चमत्कार के आनन्द में डुबो देते हुए अविकल्पभाव से शिवता में प्रवेश करने का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष – भट्टभास्कर के शिवसूत्र वार्तिक में "स्वचित्ते" ऐसा जो पाठ छपा है वह सम्पादक या मुद्रक की गलती से छपा है। वार्तिक में "स्वचित्तेन" इसी पाठ को मानते हुए "स्वचेतसा" इस तरह से व्याख्या की गई है। आगे के दो सूत्रों में से वार्तिक में जो २२वां है उसे विमर्शिनी में २३वां माना गया है और २३वें को उससे पहले स्थान दिया गया है। हम सूत्रों को वार्तिक के क्रम में ही रख रहे हैं। तदनुसार २२वां सूत्र यह है-

२२. मध्येऽवरप्रसरः।

वर्णोच्चारे तावदादावुद्बुभूषायामन्ते च विश्रान्तौ शिवतैव। मध्ये पुनरविकल्पदशातः प्रसवो भ्रंशो भवति साधारणानां जनानाम्। योगिनां तु तत्रापि शाक्तस्वरूपस्फुरणमेव यत्-तत् तावच्छिवतापेक्षया मनागवरः प्रसरः—भेददर्शनस्थितिरूपोऽवरः प्रसरः इति वात्र तात्पर्यम्। परमग्रिमसूत्रेणोच्यमानानुसारं योगिनस्तत्रापि समदर्शनमेव।

वर्ण के उच्चार में प्रारम्भ में और पर्यवसान में शिवता का ही प्रकाश होता रहता है। केवल मध्यदशा में ही भेद दर्शन के साथ ही साथ निर्विकल्प दशा से ज़रा भर च्युति हो जाती है। वही अवर प्रसर कहलाता है। उत्कृष्ट योगियों को तो उस मध्य दशा में भी शाक्तस्वरूप का स्फुरण होता ही रहता है। परन्तु कहने के लिए वह शिवता के

स्फुरण से ज़रा भर अवर होता है। फिर भी प्राण समाचार के चलते रहने पर योगी को स्वरूप से च्युति होने नहीं पाती है, ऐसा अगले सूत्र में कहा जा रहा है।

२३. प्राणसमाचारे समदर्शनम्।

१) सर्वज्ञानक्रियारूपं निजं पारमेश्वरं सामर्थ्यं यत् तदेवात्र सर्वानुप्राणनक्षमत्वेन परनादरूपत्वेन प्राणपदेनोक्तम्। तस्य समाचारो वर्णमन्त्रपदादिषु पुनः पुनः परिस्फुरान्नावेशः। तस्मिन् सति सर्वाभेददृष्ट्या यत् सामरस्य-दर्शनं तदेवात्र समदर्शनमित्युक्तम्। अनेन ज्ञानक्रियास्वातन्त्र्यमयस्य प्राणस्य (प्राणनक्षमस्य) बलेनैव सर्वे वर्णमन्त्रपदादिका भावाः सर्वज्ञत्वसम्पादनोचितबलान्विताः भवन्ति सहजविद्योदयशालिनः शिवयोगिनः। एतेन प्रबुद्धस्य न कदाचित्पशुजनवदवरः प्रसवः इति।

२) व्याख्यान्तरम्– आणवोपायनीत्या प्राणस्य बहिर्मन्दमन्द-प्रसरणे सति योगिनश्चिदानन्दघनात्मतया एकरूपतायाः संवेदनं सर्वास्ववस्थासु भवति।

१) परमेश्वरतारूपी सामर्थ्य परविमर्शात्मक पर-नाद के रूप में चमकता हुआ समस्त पदार्थों में प्राणप्रतिष्ठा करता रहता है। अतः वह विश्व का प्राण है। वही वर्ण, मन्त्र, पद आदि में पुनः-पुनः स्फुरित होता रहता है। यही उसका समाचार कहलाता है। उससे योगी को सर्वत्र अभेद का ही जो दर्शन होता है, उसे ही सूत्र में समदर्शन कहा गया है। उस स्वातन्त्र्यरूपी प्राण के बल से ही वर्ण, मन्त्र, पद आदि वीर्यवान् बन कर सर्वज्ञत्व आदि को जगा देने वाले बल को पाते हैं।

२) आणवोपाय की प्रक्रिया के अनुसार जब मन्द-मन्द गति से प्राण का प्रसरण होता है तो योगी को चिदानन्दघन रूपी एकता का साक्षात्कार हो जाता है।

२४. मात्रासु स्वप्रत्ययसन्धाने नष्टस्य पुनरुत्थानम्।

१) मायादिधरापर्यन्तासु तत्त्वकलासु सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्व-सामर्थ्यवशादसौ योगी स्वप्रत्ययसन्धानम्-अहमिति स्वात्मविमर्शसंस्थापनं करोति सहजविद्योदयप्रस्फुरणतः। कृते च तस्मिन् नष्टमपि भावं पुनः स्त्रष्टुं प्रभवति। इत्थं वर्णानुप्राणनवदसौ भावभुवन शरीराद्यनुप्राणनमपि कर्तुं समर्थो भवति। तेन सर्वत्रास्य स्वतन्त्रं कर्तृत्वं प्रथते।

२) व्याख्यान्तरम्–शब्दादिपदार्थात्मिकासु मात्रासु यदा योगी इदमहमिति स्वात्मतामनुसन्धत्ते, तदा व्युत्थानोचितादवरात् प्रसरान्नष्टस्य अवरप्रसरेणतिरोहितस्य तुर्यचमत्कारात्मकस्य स्वभावस्य पुनरुन्मज्जनं तस्य योगिनो भवति।

१) माया से लेकर पृथ्वी तक के तत्त्वों के विषय में सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता के सामर्थ्य से वह शिवयोगी (उनके विषय में) स्वात्मता का विमर्शन करता है और उससे वह नष्ट हुए पदार्थों की पुनः सृष्टि कर सकता है। यह उस की सहजविद्या के उदय का एक फल होता है।

२) शब्द आदि पदार्थों के विषय में भी जब योगी अपने स्वरूप का ही अनुसन्धान करता है "यह मैं हूं" तो आवरण में पड़े हुए, अतः अदृश्य बने हुए अपने तुर्य स्वरूप को पुनः चमका देता है।

२५. शिवतुल्यो जायते।

चित्प्रकाशप्रथनतः समुन्मिषितात् सहजविद्योदयादसौ शिवयोगी सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वादिसामर्थ्यानुशीलनपरः सन् शिवतुल्यतां स्वात्मनोऽनुभवति। न पुनः शिवीभवति। देहस्य स्थितत्वात्। तुर्यरस-चमत्कार-परिशीलन-प्रभावतः साक्षात्कृततुर्यातीतपदः सन् स्वच्छ-स्वच्छन्द-चिदानन्दघनतामनुभवन् शिवतुल्यत्वमाप्नोति जीवन्मुक्तिपदस्थित्या।

चित्प्रकाश के स्फुरित होने से जब सहजविद्या का स्वयमेव उदय हो जाता है, तो योगी सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि सामर्थ्यों के उद्बुद्ध हो जाने से शिव-तुल्यता की अवस्था को प्राप्त करता है, परन्तु साक्षात् शिव नहीं बनता। साक्षात् शिवभाव पर तो तभी प्रतिष्ठित हो सकता है, जब प्रारब्ध कर्म के समाप्त हो जाने पर उसके शरीर का अन्त हो जाता है और शिव में तथा उस में भेद को जतलाने वाली कोई भी वस्तु शेष नहीं रहती।

२६. शरीरवृत्तिर्व्रतम्।

१) जीवन्मुक्तिदशायां स्नान-पान-भोजन-शयनादिका शरीरसम्बन्धिनी वृत्तिरेवास्य व्रतम्, नान्यत् समयाचारपालनादिकम्।

२) शरीराङ्गाण्येवास्य कपालादीनि; शरीररूपे श्मशानेऽवस्थानमेवास्य कापालिकं महाव्रतम्।

३) देहवृत्तिष्ववस्थितस्यापि शिवभावसमाविष्टता स्वरूपमस्य व्रतम्।

४) देहे यथासुखं वर्तनमेवास्य व्रतम्, न पुनस्तदतिरिक्तं किमपि स्वस्वरूप-विमर्शनात्मकनित्यपूजातत्परस्यास्य योगिनः।

५) प्रारब्धान्तं देहे वर्तमानत्वमेवास्य व्रतम्। प्रारब्धान्तमवश्यं देहे तिष्ठत्येव, न ततः पूर्वं

देहं त्यजति सद्यः शिवीभवितुमिति।

१) स्नान, पान, भोजन, शयन आदि शरीर के व्यापार ही जीवन्मुक्त योगी का व्रत बन जाते हैं। उनसे अतिरिक्त कोई नित्य नैमित्तिक आदि कर्म उसे करने नहीं पड़ते।

२) उसके शरीर के अंग ही महाव्रती कापालिक शैव साधक के उचित कपाल, कङ्काल आदि साधन बन जाते हैं और साधारण दिनचर्या ही उसका कापालिक महाव्रत बन जाता है।

३) शारीरिक व्यवहारों में ठहरे रहने पर भी उसका शिवभाव-समावेश रूपी व्रत चलता ही रहता है।

४) अपने शरीर में सुखपूर्वक ठहरना ही उसके लिए व्रत बन जाता है; पूजा, होम, याग आदि उसे करने नहीं पड़ते हैं।

५) लोकोपकार के लिए प्रारब्ध कर्म के अन्त तक शरीर में वह ठहरा ही रहता है, शिवभाव में सद्यः प्रवेश करने के लिए वह शरीर का सद्यः परित्याग नहीं करता है।

२७. कथा जपः।

१) यत्किञ्चिदसावुच्चारयति तत् सर्वमस्य जप एव, सर्वत्र शिवत्वविमर्शनात्।

२) सततप्रचलदहं-विमर्शात्मक-कथारूपोऽस्य सन्ततो जपो, यं शाक्तं जपं वदन्ति।

३) अहोरात्रं सोऽहमिति हंसवागीश्वरीजपपरो वा भवति। सोऽयं पौद्गलो जपः।

४) सततमेव "हंसः-हंसः" इति वा परामृशति हंसजपपरायणः।

५) सततमेव वा प्रणवतत्त्वविमर्शनपरो भवति। सोऽयं निष्कलो जपः। एतत् सर्वं वैकैकमपिवा द्व्यादिवास्य स्वाभाविकत्वेन प्रसरति, न किमपि प्रयोजनमनुसन्धाय। एवं जपं विदधानः कालं नयति।

वह जो कुछ भी बोलता है वह सारा उसका चार प्रकार का निम्न लिखित जप ही बन जाता है।

१) लगातार चलता हुआ उसका अहं विमर्श उसका 'शाक्त जप' होता है।

२) अथवा वह दिन रात "सोऽहम्" इस प्रकार का 'अजपा जाप' करता रहता है।

इसे 'पौद्गल जप' कहते हें।

४) अथवा वह लगातार "हंसः-हंसः" इस प्रकार का 'हंस जप' करता रहता है।

५) अथवा वह सदैव प्रणवतत्त्व का विमर्शन करता रहता है जो निष्कल जप कहलाता है। किसी एक प्रकार का, किन्ही दो आदि प्रकारों का, या सभी प्रकारों का यह जप उसे अनायास ही स्वयमेव चलता रहता है।

२८. दानमात्मज्ञानम्।

१) आत्मज्ञानमेवानेन दीयते योग्येभ्यः पात्रेभ्यः।
तदात्मज्ञानं च दानमित्थम्–
(क) दाप्यते लूयते मायाप्रपञ्चोऽनेनेति (दाप लवने)।
(ख) दाश्यते हिंस्यते भेदप्रथाऽनेनेति (दाशृ हिंसायाम्)।
(ग) दीयतेऽवखण्ड्यते भेददृष्टिरनेनेति (दोऽवखण्डने)।
(घ) दायते शोध्यते मलप्रपञ्चोऽनेनेति (दैप शोधने)।
(ङ) दीयते रक्ष्यते स्वस्वरूपस्थितिरनेनेति (देङ् रक्षणे)।
(च) दीयते परिपूर्णा स्वरूपप्रथाऽनेनेति (दा दाने)।

२) दानक्षपणस्वभावां दीक्षामेव ददाति योग्येभ्यः शिष्येभ्य इति।

१) भोग मोक्ष का दान देना और बन्धनों तथा क्लेशों का क्षपण करना दीक्षा का स्वभाव होता है। तो शिवयोगी दान और क्षपण स्वभाव वाली दीक्षा का दान समुचित अधिकार वाले साधकों को देता रहता है। आत्मज्ञान ही दीक्षा का एक मुख्य अंग है। दीक्षा को यहां जो दान कहा गया है, उसका आधार निम्नलिखित वैयाकरण व्युत्पत्तियां हैं–

क) माया-प्रपञ्च का उससे दापन अर्थात् छेदन होता है (दाप-लवने)।
ख) उससे भेदप्रथा का दाशन अर्थात् नाश होता है (दाशृ हिंसायाम्)।
ग) भेददृष्टि का अवखण्डन उससे होता है (दो-अवखण्डने)।
घ) मलप्रपञ्च का वह शोधन करती है (दैप-शोधन)।
ङ) उससे स्वरूपस्थिति का रक्षण होता है (देङ्-रक्षणे)।
च) वह परिपूर्ण स्वरूप प्रथा को दिया करती है (दा दाने)।

२) शिवयोगी योग्यपात्रों को आत्मज्ञान का दान दिया करता है।

२९. योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च।

१) अवीन-पशून् पातीत्यविपं शिवस्य शक्तिचक्रम्। तच्च "कवर्गादिषु पशुमातरः" इत्यत्र निर्दिष्टं माहेश्वर्यादि-मातृका-चक्रम्। तासु स्थितोऽधिष्ठातृतया तिष्ठन्, तासां च ज्ञाहेतुः – ज्ञानस्यावभासस्य कर्ता, तदवभासकः इति। सहजविद्योदयप्रभावतः शिवयोगी स्वात्मानमेव मातृचक्राधिष्ठातारं तच्चक्रस्यावभासकरं च पश्यति। ताः शक्तयस्तेनाधिष्ठिता एवाघोरादिव्रातत्रय रूपेण विश्वव्यवहारसञ्चालिन्यः इति पश्यति साक्षात्। एवम्भूतोऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च यो योगी तस्य स्वशक्तिप्रचयो विश्वमित्यग्रेऽन्वयः सूत्रस्य। ज्ञाहेतुर्ज्ञानहेतुस्तदवभासक इति।

२) अथात्र योगी शिव एवेति सूत्रस्थैकैकवर्णश्रुत्याप्यभिव्यज्यते। तद्यथा योगिपक्षे–यो= योगी, वि=विश्वरूपः, प=पदे, स्थः=तिष्ठन्, ज्ञा=ज्ञानपूर्वकः, हे=हेतुः, तुः=तुच्छस्य भोगस्य, च=मोक्षस्यापि इति। तदुक्तं वार्तिके–

अतो योगी विश्वरूपपदस्थो ज्ञानपूर्वकः।
हेतुर्भोगस्य मोक्षस्य प्रकृष्टः प्रतिपादितः॥ इति (शि.सू.वा., पृ. ७०)

योगिनः शिवत्वपक्षे– यो=योनिः, वि=विश्वस्य, प=परः, स्थः=स्थितः, ज्ञा=ज्ञानक्रियात्मा, हे=हेयस्य, तु=तुच्छीकरणपरः, च=भवतीतिशेषः।

तदुक्तं वार्तिके–

योनित्वेन च विश्वस्य पर एव स्थितः प्रभुः।
ज्ञानक्रियात्मा हेयस्य तुच्छीकरणहेतुतः॥ इति (शि.सू.वा., पृ. ७०)

३) उपरि निर्दिष्टे मातृचक्रे प्रभुत्वेन स्थितो यः स ज्ञानशक्तिहेतुः। असावुपदेश्यान् ज्ञानशक्त्या संयुनक्ति, तांश्च बोधयितुमलं भवति। मातरो वात्र खेचर्याद्याः शक्तयः। ताश्चेमाः–

क) खेचर्यो– बोधगगनसन्निहिते संस्कारजाले स्थितास्तन्नियामकत्वेन तत्र चरणशीलाः।

ख) गोचर्यो - गोष्वन्तःकरणेषु चरणशीलास्तद्व्यापारनियामिकाः।

ग) दिक्चर्यो - दिशः प्रति बहिः प्रसरणशीलेषु बहिरिन्द्रियेषु चरन्त्यस्तद्व्यापारजाल-नियमन कारिण्यः।

घ) भूचर्यो - भूप्रायेषु स्थूलेष्वालम्बनेषु विषयरूपेषु प्रसरण स्वभावास्तद्विकल्पोद्भावन-कारिण्यः इति।

१) अवि भेड़ी को कहते हैं। यहां पशु प्रमाताओं को यह नाम दिया गया है। उनका पालन करने वाले शक्तिचक्र को 'अविप' कहा गया है। उन पर शासन करने वाला उनको वश में रखने वाला योगी अविपस्थ कहलाता है। वही उनका ज्ञाहेतु, अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाशन का कारण भी है। शिवयोगी अपने आप मातृकाचक्र के ऊपर अधिष्ठित स्वामी के रूप में ठहरकर उनको जानता हुआ उनका अवभासन करने वाला समझने लग जाता है। यह उसकी सहजविद्या के उदय का एक फल है। उसके अधीन शक्तियां संसार के व्यवहारों को चलाया करती हैं, ऐसा उसे अनुभव होता है। तभी ऐसे योगी को सारा विश्व ही अपनी शक्तियों के प्रचय के रूप में दीखता है, ऐसा अगले सूत्र में कहा जा रहा है।

२) मातृकाचक्र का प्रभु बनकर ठहरा हुआ योगी शिष्यों की ज्ञानशक्ति को जगाने वाला (ज्ञानहेतुः) बन जाता है।

३) यहां किन्ही कें मत में शक्तियां खेचरी आदि चार वर्गों की देवियां ली जानी चाहिएं। जब शिवयोगी उनका स्वामी बनता है, तभी वह शिष्यों में ज्ञान की ज्योति को जगा सकता है, यह तात्पर्य है।

शक्तियों के वे चार वर्ग ये माने गए हैं-

(क) खेचरी वर्ग - 'ख' आकाश को कहते हैं। यहां आकाश तुल्य शुद्ध बोध को ख कहा गया है। उसका समीपस्थ क्षेत्र संस्कारजाल होता है। उसमें विचरण करती हुई और उसके व्यापारों को नियमपूर्वक चलाती हुई शक्तियां खेचरी शक्तियां हैं।

(ख) गोचरी वर्ग - गो शब्द से अन्तःकरण वर्ग लिया गया है। उसके व्यापारों को नियमपूर्वक चलाने वाली शक्तियां गोचरी कहलाती हैं।

(ग) दिक्चरी वर्ग - दसों दिशाओं के प्रति विचरण करने वाली और विषयों का ग्रहण करने वाली बाह्य-इन्द्रियों के वर्ग में विचरण करती हुई और उनके व्यापारों को चलाने वाली शक्तियों को दिक्चरी नाम दिया गया है।

(घ) भूचरी वर्ग = भू पृथ्वी का नाम है। तो पृथ्वी आदि स्थूल भूतों और भौतिक आलम्बनों में प्रसरण करती हुई, उन के विषय में विकल्प-ज्ञान का क्रम से उद्भावन कराने वाली तथा इस तरह से उनके भीतर विचरण करने वाली शक्तियां भूचरी शक्तियां मानी गई हैं।

३०. स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।

१) यः पूर्वमुद्दिष्टः शक्तिचक्राधिष्ठाता शिवयोगी तस्य कृते विश्वं निजशक्तीनां नवनवोल्लासपरिस्पन्द एव।

२) यथा शास्त्रानुसारं विश्वं शिवस्य शक्तीनां प्रसर एव, तथैवास्य शिवयोगिनः कृते तत् स्वसंविच्छक्तेः क्रियायाः स्फुरणरूपो विकास इति तस्यानुभवः। किञ्चात्र परयोगिनः सृष्टिस्वातन्त्र्यमपि प्रतिपादितं भंग्या।

१) शक्तिचक्र का प्रभु बने हुए योगी को सारा प्रपञ्च अपनी ही शक्तियों के नए-नए उल्लास के स्पन्दन के रूप में दीखता है।

२) जैसे विश्व शिव की शक्तियों का बहिर्मुख प्रसार है, वैसे ही उत्कृष्ट शिवयोगी भी उसे अपनी संवित्-शक्ति की क्रिया-शीलता के परिस्पन्दन के रूप में ही देखता है।

इस सूत्र के द्वारा शिवयोगी की स्वतन्त्र सृष्टि-शक्ति के प्रति भी सङ्केत किया गया है। तात्पर्य यह है कि ऐसा योगी स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि-संहार आदि भी कर सकता है।

३१. स्थितिलयौ।

१) इदं तावद् योगिनः स्थितिसंहारस्वातन्त्र्यमुक्तं वेदितव्यम्। विश्वस्य सृष्टिस्वातन्त्र्यं पूर्वसूत्रे सङ्केतितम्। विश्वस्य स्थितिलयावप्यस्य स्वशक्तिप्रचय एवेति। आभासमानं विलीयमानं च जगदस्य शक्तीनामुल्लासस्पन्द एवेति तस्यानुभवः।

२) बहिर्मुखत्वावभासः चिन्मयप्रमातृभावविश्रान्तिश्चोभयं स्वशक्तिप्रचय एवास्य योगिन इति वा तात्पर्यं सूत्रस्य।

१) संसार की स्थिति और इसका लय भी योगी को अपनी शक्तियों के प्रचय ही के रूप में दीखते हैं। इस सूत्र के द्वारा योगी की स्थितिशक्ति और संहारशक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है।

२) बहिर्मुखता का आभास और चिन्मय प्रमातृभाव पर विश्रान्ति, दोनों ही शिवयोगी की अपनी शक्तियों का प्रसार ही होता है।

इस सूत्र में पूर्वसूत्रस्थ 'स्वशक्तिप्रचयः' इस समस्त पद की अनुवृत्ति है।

३२. तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेत्तृभावात्।

सृष्टि-स्थिति-संहारेषु स्वशक्तिस्फुरणतः प्रवृत्तेष्वप्यसौ योगी नैसर्गिकस्वभावभूतात् शुद्ध-परिपूर्ण-विश्वोत्तीर्ण-स्वतन्त्र-प्रमातृभावान्नैव मनागपि च्यवते कदाचिदपि। न निरासो यस्य सोऽनिरासः परयोगी। तस्य वा ततो निरासो न भवतीति।

अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि, स्थिति, संहार आदि में प्रवृत्ति के होते रहने पर भी वह शिवयोगी अपने नैसर्गिक स्वभाव से, अर्थात् विश्वोत्तीर्ण, शुद्ध और स्वतन्त्र पारमेश्वर प्रमातृभाव से ज़रा भर भी च्युत नहीं होता है।

३३. सुखासुखयोर्बहिर्मननम्।

तस्य योगिनः सुखदुःखयोरपि घटादिवद् विषयतयैव मननं भवति। घटोऽयं पटोऽयमिति वदेव सुखमिदं दुःखमिदमिति मन्यतेऽसौ, न पुनः सुख्यहं दुःख्यहमित्यात्मनि सुख-दुःखे समारोपयति। तटस्थतयैवोभयं पश्यति। तस्य पुर्यष्टकप्रमातृभावः प्रशान्तो भवति, संवित्-प्रमातृभावश्चोन्मग्नतां प्राप्तो भवति। ततो व्यवहारदशास्वपि सुखदुःखे तटस्थतयैव विमृशति। ततो न ताभ्यामस्य स्वरूपमाव्रियते।

शिवयोगी जैसे व्यवहार में नील आदि या घट आदि बाह्य पदार्थों को केवल प्रमेयात्मकतया ही जानता है और मानता है, स्वात्मतया नहीं जानता या मानता है, वैसे ही वह सुख और दुःख को भी तटस्थ भाव से केवल प्रमेयतया ही जानता है और मानता है, अपने ऊपर इनका आरोप नहीं करता है और उसके फलस्वरूप उसे यह संवेदना नहीं होती है कि मैं सुखी हूं या मैं दुःखी हूं। अपितु उसे यही संवेदना होती है कि यह सुख है, यह दुःख है। वह इनको अपने आप की विशेषताऐं नहीं मानता है।

इस सूत्र में जरा भर पाठभेद भी माना गया है, तदनुसार कोई इसका पाठ ऐसा मानते हैं-

३३-सुखदुःखयोर्बहिर्मननम्॥

अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

३४. तद्विमुक्तस्तु केवली।

१) सततसमावेशपरो वा शिवयोगी ताभ्यां सुखदुःखाभ्यां विमुक्त एव सन् केवली-केवलचिन्मात्रस्वरूपतायां तिष्ठँस्तथैव प्रकाशते। नैव सुखदुःखे संवेत्ति।

२) सुखदुःखे विषयवदेव स्वात्मनः सकाशात् पृथगेव मन्वानोऽसौ शिवयोगी वस्तुतस्ताभ्यां विमुक्त एव सन् जीवन्मुक्ततायां विहरति।

१) बार-बार समावेश दशा में निमग्न रहता हुआ शिवयोगी तो सुख-दुःख से रहित होता हुआ प्रायः केवल चिन्मात्र स्वरूप में ही अवस्थित रहा करता है। तब उसे सुख दुःख की संवेदना तक नहीं होती है।

२) सुख और दुःख को बाह्य विषयों ही की तरह तटस्थ भाव से देखता हुआ शिवयोगी वस्तुतः उनसे छुटकारा पाता हुआ जीवन्मुक्ति की दशा में विचरण करता रहता है।

३५. मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा।

१) यः प्रमाता योगारूढो न भवति, अपि तु यस्य मोहेनैव मायाकृतेन संहतिः—परः संश्लेषो भवति, योऽद्यापि मोहात्मकेनाज्ञानेनैव सम्भिन्नः स एव तु कर्मात्मा—कार्ममल-समाविष्टोऽणुर्भवति, न पुनः कथञ्चिदयं सहजविद्योदयविभूषितः शिवयोगी। प्रत्युदाहरण-कथनमेतत्।

२) मोहसंयुक्तः प्रमाता तु साधारणः संसरणशीलः पशुदशाभाग् जीव एव भवति, नासौ केवली।

१) मोह में फंसा हुआ प्राणी तो कार्ममल से आविष्ट परिमित प्रमाता ही होता है। शिवयोगी को कार्ममल छू भी नहीं सकता।

२) मोहयुक्त प्राणी तो साधारणतया पशुदशाभागी जीव ही होता है, वह कैवल्य का भागी नहीं बनता है।

३६. भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम्।

१) शिवयोगी यतो भेदस्य तिरस्कारं कुरुते, ततोऽसौ नैव कर्मात्मा। भेदतिरस्कारेण तस्य सर्गान्तरकर्मत्वं सिद्धं भवति। तच्च स्वतन्त्रं सृष्ट्यादिकर्तृत्वं यत्तस्य स्वत एवाभिव्यक्ततां याति चित्-स्वरूप-प्रकाशवशतः, सहजविद्योदयाच्च। एवमसौ सृष्ट्यादिकरणेन साक्षान्निजं शिवत्वं संवेत्ति। सर्गान्तरपदेन तत्कृता स्वतन्त्रा सृष्टिरभिप्रेता। यथा विश्वामित्रादीनां प्रसिद्धा त्रैशङ्कवादिषूपाख्यानेषु।

२) कर्मात्मापि चेद् भेदं तिरस्कुर्यात् तर्हि सोऽपि शिववत् स्वतन्त्रसृष्ट्यादिसम्पादने

समर्थो भवति।

१) योगी तो भेदभाव को तिरस्कृत करता हुआ कार्ममल के स्पर्श से हीन ही बना रहता हुआ कर्मात्मा नहीं बनता। वह अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि आदि कर सकता है और उस सामर्थ्य की साक्षात् अनुभूति से उसे अपने शिवभाव पर पक्का विश्वास जम जाता है।

२) कार्ममल से अवच्छिन्न मानव भी यदि शिवयोग की दृष्टि का आश्रय लेकर भेद का तिरस्कार कर दे तो वह भी शिवतुल्य बनता हुआ स्वतन्त्रतया सृष्टि आदि कर सकता है। सर्ग शब्द इस सूत्र में संहार आदि को भी उपलक्षित करता है।

३७. करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात्।

१) योगिनः करणशक्तिः—स्वेच्छानुसारिणी निर्माणशक्तिर्या पूर्वमुक्तासौ तस्य स्वानुभूति-विषयतामापन्ना सती स्वस्वभावभूततया विलसति। तस्यासौ स्वत एव समुदेति सहजविद्योदयस्य हृदयङ्गमीभावतः। किञ्चासावस्याकृत्रिम-स्वबलाश्रयणरूपात् स्वानुभवादेव सिद्धा भवति। निजं क्रियाशक्तिस्वातन्त्र्यं स्वयं साक्षात् संवेत्त्यसाविति।

२) योगिनः करणानि सर्वज्ञानक्रियासु स्वातन्त्र्येण प्रसरन्ति। एतदसौ साक्षादनुभवति स्वयमेव।

३) तर्कयुक्त्याऽस्य निजं स्वतन्त्रं निर्मातृत्वं स्वप्नादिदृष्टान्तेन सिद्ध्यतीत्यपि केषांचिन्मतमस्य सूत्रस्य व्याख्याविषये।

१) योगी स्वानुभूति से यह जान लेता है कि वह जो चाहे सो कर सकता है। ऐसी निर्माणशक्ति का उदय उसमें सहजविद्या के बल से स्वयमेव हो जाता है।

२) उसे अपने अनुभव से यह सिद्ध होता है कि उसके बाह्यकरण और अन्तःकरण उसकी इच्छा के अनुसार काम करते हुए सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता के क्षेत्र में विचरण करते हैं।

३) स्वप्न आदि के दृष्टान्त से योगी को निश्चय हो जाता है कि वह जो चाहे सो कर सकता है।

३८. त्रिपदाद्यनुप्राणनम्।

१) त्रयाणां जाग्रदादीनां पदानां यदाद्यं—तदुदयास्तमयस्थानतया सिद्धं तत् तुर्याख्यं पदम्। तस्य शुद्धसंविन्मयप्रमातृत्वस्वभावस्य तुर्यपदस्यानुप्राणनम्-अभिव्यक्तिर्भवत्यस्य

शिवयोगिनः। सा च प्रबुद्धस्यान्तर्मुखायां चित्तवृत्तौ भवति, सुप्रबुद्धस्य तु बहिर्व्यवहारेऽप्यसावनावृतैव सततं परिस्फुरति। बाह्यान्तर प्रमेयावभासमय्योः जाग्रत्स्वप्न-दशयोः तदवभासशून्यायां सुषुप्तावपि तस्यान्तर्मुख स्वविमर्शस्थित्या शुद्धं प्रमातृत्वं संविन्मात्रस्वरूपं विद्युदुद्द्योतवत् प्रस्फुरत्येव। तत्तदिष्टदर्शनादिषु, हर्षशोकभयाश्चर्यादिभावानां तीव्रेष्वावेशेषु गीतनृत्यनाट्यादिविषयकास्वाद चमत्कार क्षणेषु च विशेषतस्तस्यानपेक्षस्य प्रमातृत्वस्य प्रस्फुरत्तानुभूयतेऽवधानधनैः साधकोत्तमैः। शाम्भवयोगस्य विशेषविभूतेर्वर्णनं कृतमेवमत्र सूत्रे।

२) त्रयाणां जाग्रदादीनां पदानां यदाद्यं तुर्यं पदं तेन त्रयाणामप्यनुप्राणनं, तेषु त्रिष्वपि तुर्याख्य पदस्य ओतप्रोतत्वेन तत्तत्परावभासकत्वं तस्य शिवयोगिनः संवित्तौ स्फुटमाभासते।

३) त्रयाणां सृष्टि-स्थिति-लयशब्दोक्तानां भावौन्मुख्य-भावाभिष्वङ्ग-भावान्तर्मुखीभावभावनामयानां पदानां यदादिभूतं प्रधानमानन्दघनं तुर्याख्यं पदं तन्मायाशक्त्यावृतमपि सत्तत्तद्विषयदर्शनस्पर्शनोपभोगाद्यवसरेषु योगिनामचिरद्युतिवत् क्षणं प्रकाशते। तेनैव योगी स्वात्मनोऽनुप्राणनम्, आत्मस्वरूपस्योत्तेजनं कुर्यादिति विध्यर्थत्वेनापि केचन सूत्रमेतद् व्याख्यान्ति। परं नैव प्रकरणानुकूलैषा व्याख्या।

१) शिवयोगी को तीनों ही जाग्रत् आदि पदों के आदिभूतपद का उद्बोधन होता है, अर्थात् सर्वत्र तुर्यावस्था की अभिव्यक्ति होती रहती है। प्रबुद्ध योगी को वह अभिव्यक्ति अन्तर्मुख होने पर ही होती है। परन्तु सुप्रबुद्ध योगी को बहिर्मुखता की अर्थात् व्यवहारमयी स्थिति में भी हुआ ही करती है।

२) योगी को अपने स्वसंवेदन प्रमाण से यह बात स्फुट हो जाती है कि जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं की आदिभूता अवस्था के द्वारा ही उन तीनों में प्राणप्रतिष्ठा हो जाती है। वह तीनों ही अवस्थाओं का प्राणतत्त्व तुर्या को ही समझा करता है।

३) सृष्टि, स्थिति, लय स्वरूप भावौन्मुख्य, भावाभिष्वङ्ग और भावों का अन्तर्मुखीभाव रूपी तीनों क्रियाओं की आदिभूता स्थिति जो आनन्दमयी तुर्यचेतना होती है, उसी चेतना का क्षणिक साक्षात्कार योगी को उन-उन क्रियाओं में होता रहता है। योगी को उन्हीं से अपने स्वरूप को चमका देने का अभ्यास करते रहना चाहिए आणवयोग की विधि के अनुसार। (ऐसी व्याख्या प्रकरण से जोड़ नहीं खाती है)

३९. चित्तस्थितिवच्छरीरकरणबाह्येषु।

१) तुर्यात्मकेन स्वरूपेणानुप्राणनं भवतीति पूर्वसूत्रादनुवर्तते। तद् यथा पूर्वसूत्रोक्तानुसारं जाग्रदादिष्वपि चित्तस्थितिषु शुद्ध-परिपूर्ण-प्रमातृत्वोन्मज्जनं भवति शिवयोगिनस्तथैव तस्य

शरीरकरणबाह्येष्वपि तद् भवतीति। बाह्यमत्र नीलसुखादिप्रमेयजातम्। तस्य योगिनः स्थूलशरीरादिषु, बाह्यान्तःकरणेषु, वेद्यजातेषु चाभासमानेष्वपि सर्वत्र स्वरूपभूतशुद्ध-परिपूर्ण-प्रमातृभावोन्मज्जनं भवत्येव। सर्वत्रासौ स्वं पारमेश्वरं स्वरूपमेव पश्यत्यहमिति परिपूर्णशुद्ध संविदात्मकम्।

२) तुर्यदशाभ्यासेनोपायभूतेन शरीर-करण-बाह्येष्वपि योगिना स्वस्य संवित्स्वरूप-स्योत्तेजनं कार्यमिति पूर्ववद्विधिपरत्वेनापि व्याख्यायते कैश्चित् सूत्रमेतत्।

१) चित्तस्थिति की तरह योगी को शरीर, करण और बाह्यपदार्थों में भी निज स्वरूपभूत शुद्ध प्रमातृभाव की ही उन्मग्नता का अनुभव होता रहता है। वह सर्वत्र अपने चिन्मय स्वरूप को ही देखा करता है।

२) तुर्यदशा के उस अभ्यास से योगी को शरीर आदि जड पदार्थों में भी अपनी तुर्यचेतना को चमका देने का अभ्यास करना चाहिए।

४०. अभिलाषाद् बहिर्गतिः सम्बाह्यस्य (संवाह्यस्य)।

द्विप्रकारकेणाभिप्रायेण व्याख्यायते सूत्रमेतत्– (१) प्रत्यभिज्ञात-स्वात्म-स्वरूपस्य पतिदशोचितस्य प्रबुद्धस्य सुप्रबुद्धस्य च योगिनो विषयत्वेन, (२) अबुद्धस्य साधारण-जनस्य, बुद्धस्य चापि–शास्त्राभ्यासे प्रवृत्तमात्रस्य पशुदशोचितस्यैव जनस्य विषयत्वेनेति। नैसर्गिक-पारमेश्वरबलोद्रेकतः पत्युर्बहिः स्वशक्त्यभिव्यक्तिं प्रत्यौन्मुख्यं तावत्तस्याभिलाषः। अथवा संस्कारात्मकत्वेनावस्थितस्य रागतत्त्वस्य परिस्पन्दनमत्रामभिलाषः। बहिर्गतिश्च स्वशक्तेबहिर्मुखा सृष्ट्यादिकृत्यपरा वा गतिरिन्द्रियद्वारैर्वा बहिर्विषयोन्मुखा गतिः। सम्बाह्यश्च करणवर्गो वा पशुप्रमाता वा। सम्यग् बाह्यविषयाभिमुखो विधीयते इति करणवर्गः सम्बाह्यः ; पशुवद्भारोद्वहन-प्रायेषु व्यवहारेषु संवाह्यते इति संवाह्यः पशुप्रमाता। स ह्यघोरादिशक्तिव्रातैस्तत्र तत्र संवाह्यते-प्रेर्यते लौकिके व्यवहारजाले। तदमी तावदभिप्रायाः सूत्रस्य :–

१) प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च योगी स्वेच्छया स्वविलासत एव बहिर्व्यवहारान् विधत्ते। बहिर्विषयान् प्रति तदीयस्य करण चक्रस्य गतिर्लीलारूपादीच्छास्वातन्त्र्यादेव भवति, न पुनरपूर्णम्मन्यतात्मिकाया लोलिकाया हेतोः। किं वा रागतत्त्वसंस्कारपरिस्पन्दरूपादभिलाषादेव परयोगिनोऽपि प्राक्तनस्वभावतो विषयाभिमुखा करणानां गतिर्भवति।

२) अथवा धीकर्मेन्द्रियगणेषु चिद्बलाधानेच्छात्राभिलाषः, तेनैव करणचक्रस्य शब्दादि-विषयेषु गतिर्भवतीति निश्चप्रचो यः सिद्धान्तस्तं साक्षादनुभवति तथा प्रकृष्टो योगी, साधारणो

जनो यद्यपि तथा नानुभवति तथापि तस्यांपि गतिर्वस्तुतस्तेनैव भवति विषयेषु।

३) अप्रबुद्धादिविषये - विषयवासनात्मकेन लोलिकामूलेनाभिलाषेण अश्वादिपशुकल्पस्य संवाह्यस्य मायाप्रमातुः करणव्रातद्वारा स्वरूपाद् बाह्येषु विषयेषु गतिर्भवति। अथवा योनेर्योन्यन्तरं नीयमानस्य घोरतराभिः शक्तिभिः संवाह्यस्य पशोर्विषयाभिमुखा गति-र्वासनात्मकाद् विषयाभिलाषाद् भवति।

इस सूत्र की व्याख्या दो प्रकार के अभिप्रायों के अनुसार की जाती है। जिस उत्कृष्ट योगी ने अपने स्वरूप को पहचान कर पतिभाव को प्राप्त किया हो, उसको दृष्टि में रखते हुए एक प्रकार से व्याख्या की जाती है और जिसने स्वरूप को नहीं पहचाना हो, उस पशुप्रमाता के विचार से दूसरे प्रकार की व्याख्या की जाती है। पति के विषय में अभिलाष पद का अर्थ है अपनी पारमेश्वरी शक्ति को बहिर्मुखतया अभिव्यक्त करने के प्रति स्वातन्त्र्यलीला-विलासमयी इच्छा। पशु के विषय में अपूर्णम्मन्यता के कारण होने वाली लोलिका-रूपिणी भोगवासना इच्छा है। गति है पति के विषय में अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति के प्रति प्रवृत्ति और पशु के विषय में विषयोपभोग के प्रति इन्द्रियों की बहिर्मुख गति। सम्बाह्य इन्द्रियवर्ग को भी कहते हैं क्योंकि वह ठीक तरह से बाह्य विषयों के प्रति अभिमुख होता रहता है। फिर इस शब्द को संवाह्य ऐसा भी पढ़ा जाता है। उस पक्ष में पशुओं की तरह भारवहन जैसे लोकव्यवहार में जिसे लगाया जाता है, वह पशु प्रमाता संवाह्य कहलाता है। तो सूत्र के ये अर्थ हैं–

१) उत्कृष्ट योगी बहिर्मुख सांसारिक व्यवहारों को अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के विलास से करता रहता है, अपूर्णम्मन्यता के कारण से नहीं।

२) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में जो विषय ग्रहण और विषयज्ञान के प्रति गति होती है वह तब होती है जब संवित्-स्वरूप आत्मा अपनी चेतना के बल को उनमें अपनी इच्छाशक्ति (अभिलाषा) के द्वारा ठहराता है। उत्कृष्ट योगी इस बात का अनुभव करता है, जबकि साधारण जन वैसा अनुभव नहीं करते।

३) साधारण जीव अपूर्णम्मन्यता स्वरूप लोलिका से उदित होने वाली विषय भोग की अभिलाषा ही के कारण अपनी इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ करते हैं। बोझ ढोने वाले पशु की तरह उन्हें घोरतर शक्तियां विषयभोग की अभिलाषाओं से-अनेकों योनियों में जन्म-मरण के चक्कर में घुमाती रहती हैं।

अगले सूत्र के द्वारा यह बताया जा रहा है कि शिवयोगी के लिए विषयोन्मुख गति

किस प्रकार से संसृति का कारण नहीं बनती है-

४१. तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः।।

राग तत्त्वसंस्कार परिस्पन्दरूपादभिलाषादपि साधकप्रवरस्य विषयजातं प्रति या करणगणस्वभावभूता गतिर्भवति विकल्पज्ञानादिरूपाऽसौ प्रबुद्धस्य तस्य कृते नैव संसृतेः प्रवर्तनं करोति ; यतः प्ररूढे यथार्थे प्रमिति-रूपे ज्ञाने जीवोचिताभिलाषक्षय एव जायते। यतस्तस्य प्रमितिर्वास्तविकस्य तत्त्वस्य विषये प्ररूढा भवति। असौ च प्रमितिस्तस्य शुद्ध-परिपूर्ण-स्वसंविद्विमर्शरूपा। तस्याः सर्वथा हृदयङ्गमीभावः प्ररूढिः, सर्वथा परिपक्वतेति। अवरस्यापि योगिनो यदाभ्यासवशादसौ प्ररूढिः क्रमेण सञ्जायते तदा तस्यापि जीवभावसंक्षयः। जीवपदेनात्र जीवभाव एवाभिप्रेतः। तस्याः जीवोचिताया बहिर्गतेरपि क्षयो भवति, तत्क्षयाच्च संसृतिक्षयः उत्कृष्टस्यावरस्यापि योगिनः। तदित्यनेन पदेन प्राक्तनेषु सूत्रेषु प्रतिपादितं तुर्यदशापदं प्रति वायं निर्देशः। पक्षान्तरं वा निर्दिश्यतेऽनेन तदितिपदेन। एवं व्यवहृतौ सत्यामप्यारूढयथार्थ-प्रमितेः क्रमेण बहिर्ग तिसंक्षयाज्जीवत्वसंक्षयः इति।

जब योगी को तुर्य-दशोचित वास्तविक आत्मज्ञान का संस्कार पूरी तरह से पक्का हो जाता है, तो उसकी बद्धजीवोचित अभिलाषाओं के क्षीण हो जाने से उसका जीवभाव शिवभाव के नीचे दब जाता है। उससे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह आगे संसृति में नहीं फंसता है। शिव भाव के आवेश से यदि उसकी बहिर्गति आपाततः होती भी रहे, फिर भी वह जीव-दशा से ऊपर ही ठहरा रहता है। अवर योगी को भी जब यथार्थ ज्ञान का संस्कार रूढ हो जाता है, तो उसका भी जीवभाव क्षीण हो जाता है और अन्ततो गत्वा शिवभाव के नीचे दब ही जाता है।

४२. भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः।

१) तदा-तुर्यपदे प्ररूढायां प्रमितौ योगी, भूतकञ्चुकी-भूतानि भौतिकानि शरीरादीनि कञ्चुकमावरणमस्यास्तीति तथाभूतः, तेन च कञ्चुककल्पेन शरीरकरणादि-समूहेनाविमुक्तोऽपि सन्, शरीरे जीवन्नेव सन् वस्तुतो जीवदशातो मुक्त एव तिष्ठति जीवन्मुक्ततापदे। किञ्च तथास्थितोऽसौ भूयः- बन्धनलीलां चिरमभिनीय तदन्ते पुनः पतिसमः - शिवसमः परः - परमः शिव एव भवति वस्तुतः।

२) अथवा-तदा-अभिलाष-क्षयेण जीवभावेन्यग्भूते सति योगी भूतानि - भौतिकानि शरीरादीनि कञ्चुकवद्धारयन् न तेष्वात्मत्वाभिमानवान् भवति। तथा भूतोऽसौ बन्धनाद्

वस्तुतो विमुक्त एव भवति। भूयः-पुनः पतिसमः-चिद्धनपरमेश्वरसमः, अत एव परः-पूर्णः उत्कृष्टतमश्च प्रकाशते।

१) तुर्या दशा पर आरूढ हुए योगी के लिए पांचभौतिक शरीर एक चोला सा ही बना रहता है, उसे उसके प्रति अहन्ता का पक्का अभिमान नहीं बना रहता। वह भौतिक शरीर में ठहरता हुआ भी फिर से शिव तुल्य बन जाता है।

२) अभिलाषा के क्षीण हो जाने पर जब जीवभाव के संस्कार भी क्षीण हो जाते हैं, तो भौतिक शरीर को वस्त्रों की तरह धारण करता हुआ योगी बन्धन से मुक्त होकर फिर से शिवतुल्य बन जाता है।

४३. नैसर्गिकः प्राणसम्बन्धः।

१) यस्तस्य योगिनः स्वरूप साक्षात्कारानन्तरमपि पशुदशोचित इव क्षुत्पिपासादिजनकः प्राणापानादिवृत्तिसम्बन्धो भवति नासावज्ञानमूलको, न वापि जीवभावापादको, नाप्यज्ञान-बद्धतानुमापको, अपि तु नैसर्गिकप्राक्तनस्वभावभूतः। यथा दण्डस्पर्शापगमेऽपि, तेन च कुलाल-कृत-प्रेरणाराहित्येऽपि, चक्रं कञ्चित् कालं बम्भ्रम्यते एव, तथैव प्रारब्ध-कर्मभोग-समाप्तिं यावद् योगी भूतकञ्चुकान्नैव मुक्तो भवति। तत् सम्बन्धतस्तस्य प्राणापानादिवृत्तिसम्बन्धोऽपि तावत्कालमविचल एव तिष्ठति। एषैव भवति जीवन्मुक्त्यवस्था।

२) निसर्गात् स्वभावभूतात् स्वातन्त्र्यादेव मूलत आयातस्तस्य प्राणसम्बन्धः। संविदः स्वभाव एवायं यदसौ स्वविलासतः प्राणरूपतां धत्ते। तेन प्राण सम्बन्धः संवित्-स्वभावस्य योगिनो निजविलासत एवायातो वस्तुतः। तदसाविमं स्वविलासकल्पितमेव तदा पश्यन् गृहीत-ग्राह्य-ग्रहण रूपां त्रिपुटीमात्मलीलामयीमेवानुभवतीति।

१) जीवन्मुक्त योगी को प्राण अपान आदि जीवन सम्बन्धी व्यवहारों के साथ जो सम्बन्ध बना ही रहता है, वह ज्ञान प्राप्ति से पहले स्वभाव बने हुए जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों से स्वाभाविकतया ही चलता रहता है। प्रारब्ध कर्म की समाप्ति तक उस मायामय स्वभाव को उसका शरीर छोड़ नहीं सकता। अतः जीवन के सभी भूख, प्यास, निद्रा, जागरण, तृप्ति आदि प्राण-व्यापार स्वभावतः ही चलते रहते हैं। उन से उसकी जीवन्मुक्ति आवृत नहीं हो जाती है।

२) संवित् का यह स्वभाव है कि वह प्राणरूपतया, अर्थात् जीवन व्यापार के रूप में, प्रकट होती रहती है। अतः जीवन्मुक्त योगी को ऐसा अनुभव होता है कि वह अपने प्राण-व्यापारों को अपनी संवित् के स्वभाव से ही स्वातन्त्र्यपूर्वक स्वविलासमयी लीला

से ही चलाता रहता है।

४४. नासिकान्तर्मध्यसंयमात् किमत्र सव्यापसव्यसौषुम्नेषु।

१) नासिकायाः मार्गेणान्तः सञ्चरणे यदान्तरं हृदयाख्यं द्वादशान्तं, तन्मध्ये चित्तसंयमात् तत्र चित्तवृत्तिलयात्, तदनन्तरं न किमपि प्रयोजनं सव्यापसव्यसौषुम्नेषु, इडापिङ्गला-सुषुम्नाख्यासु सव्यदक्षिण-मध्यनाडीषु प्राणसञ्चाराभ्यासेन।

२) नसते कौटिल्येन वहतीति नासी, सैव नासिका-प्राणन शक्तिः ; तस्या आन्तरं केन्द्रस्थानीयं परं तत्त्वं संवित्स्वरूपम्। तस्याः संविदोऽपि मध्यं हृदयस्थानीयं विमर्शाख्यं स्फुरत्त्वम्। तत्र संयमादवधानस्य निवेशनात् कारणात्, तत्रावधाने निविष्टे सति योगिना सव्यापसव्यसौषुम्नेषु- इडा-पिङ्गला-सुषुम्नासु नाडीषु प्राणस्य सञ्चारणेन किम्। न किमपीति। विमर्शतत्त्वे संयमस्य सिद्धौ सत्यां पूरक-रचेक-कुम्भकादिप्राणयामायासो निष्प्रयोजनः इति।

१) नासिका के मार्ग से भीतर प्राणवृत्ति के भीतर सञ्चार के होते हुए जो आगे (हृदय रूपी) आन्तर द्वादशान्त आता है, उसी के भींतर चित्तवृत्ति के विलीन होकर टिके रहने पर आगे वाम (इडा), दक्षिण (पिंगला) और मध्यस्थ (सुषुम्ना) रूपी नाडियों में से प्राणवृत्ति के सञ्चार के अभ्यास से (शिवयोगी को) कौन सा प्रयोजन शेष रह जाता है? अर्थात् ऐसी स्थिति पर टिक जाने पर शिवयोगी को प्राण-अभ्यास की कोई भी आवश्यकता रहती ही नहीं।

२) कुटिल गति से चलने वाली प्राणशक्ति को यहां नासिका कहा गया है। (नस् धातु का अर्थ होता है कुटिलतया चलना)। उस प्राणशक्ति का आन्तर अर्थात् भीतरीय सारभाग संवित् है। उस संवित् का भी भीतरीय हृदय-स्थानीय तत्त्व विमर्श होता है। उसी पर चित्त को लगाए रखने के, पश्चात् प्राण वाहिनी इडा, पिङ्गला और सुषम्ना में प्राण की गति का सञ्चार करने से क्या लाभ, अर्थात् वह सारा प्रपञ्च व्यर्थ है। तात्पर्य यह है कि विमर्शशक्ति का अनुसन्धान कर चुकने पर प्राणयाम के द्वारा रेचक, पूरक, कुम्भक आदि का अभ्यास करने से कोई लाभ नहीं।

४५. भूयः स्यात् प्रतिमीलनम्।

भूयः - सुचिरं जीवभावलीलायाः सम्यगभिनयादनन्तरं पुनः शिवयोगिनोऽस्य प्रतिमीलनम्- परमेश्वरतायां प्रवेशः, परमेश्वरेणैकीभावः स्यात्। संस्फुरितचित् प्रकाशः संस्पन्दित-सहज-विद्योदयश्च शिवयोगी शरीरपातानन्तरं शिवः एवैक घनो भवति, शिवेनैक्यं तस्य प्रकाशते।

सति च शरीरे जीवन्मुक्ततायां जीवभावस्वभावेऽवभासमानेऽपि तदन्ते तस्य शिवभावे एव पुनः प्रतिमीलनं, लयः एकीभावो भवति।

२) जीवन्मुक्तिदशायां योगी जीवभावशिवभावयोर्मध्ये क्रमेण दोलायमान इव जीव-भावाच्छिवभावं, शिवभावाच्च जीवभावं प्रविशन् क्रम-मुद्रया स्वस्वरूपदर्शनसमास्वादमपि चमत्कुरुते। समाप्ते च प्रारब्धे कर्मणि, परित्यक्त चर्म-शरीरः सर्वतः सर्वथा सर्वदा च परिपूर्णे चिदानन्दघने परशिवभावे एव सन्तिष्ठते। तदाखिल-ब्रह्माण्ड-विषयकपञ्चकृत्य-लीला-सम्पादन-स्वातन्त्र्य-चमत्कारमयः सततं स्फुरन्नास्ते।

३) चैतन्यात्मनः स्वरूपादुदितस्यास्य जगतः भूयः स्वात्मचैतन्य एव लयो भवति तस्य शिवयोगिनः इति।

१) चिरकाल तक जीवभाव की लीला का अभिनय करते हुए जब शिवयोग के अभ्यास से शिव-समावेश के आस्वाद का अनुभव हृदयङ्गम हो जाए, तो साधक पुनः शिवभाव में ही लय हो जाता है, अर्थात् वह पुनः परमेश्वर के साथ सर्वथा अभेदभाव से ही चमकने लग जाता है।

२) शिवयोगी जीवन्मुक्ति की दशा में शिवभाव से जीवभाव में और जीवभाव से शिवभाव में क्रममुद्रा की प्रक्रिया से सञ्चरण करता हुआ बार-बार स्वरूप निमीलन और स्वरूप-उन्मीलन का अभ्यास करने लगता है।

३) चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व से उदित हुए इस महाप्रपञ्च का पुनः उसी के भीतर लय हो जाता है; जब योगी को अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाए।

सिद्धैर्जुष्टं शिवेनोक्तं सुगूढं शास्त्रमुत्तमम्।
सिद्धिदं शिवभक्तेभ्यः शिवसूत्रं सुनिर्मलम्।।
भाषाद्वयीसुटीकाभ्यां संक्षेपाद् विशदीकृतम्।
छात्राणामुपकाराय शिवप्रीत्यै च कल्पताम्।।

इति श्री शिवसूत्रविवृतिः सम्पूर्णा।

कृतिः शास्त्रिणो डाक्टर-बलजिन्नाथ-पण्डितस्य।

ग्रन्थ में समुद्धृत प्रमाण वाक्यों की सूची।

वाक्यम्	ग्रन्थः	ग्रन्थकर्ता
अतो योगी विश्वरूप०	शि०सू. वा.	भट्ट भास्करस्य
अस्ति च शिव-सूत्रम्०	स्पं. सं. पृ. २५	क्षेम राजस्य
इत्येतावत्तात्पर्यम्०	स्पं. वि. पृ. ७.	राम कण्ठस्य
केतकी कुसुमसौरभे०	मा. वि. वा.	अभिनवगुप्तस्य
क्षेपो ज्ञानं च०	तं. आ. ४-७३	अभिनवगुप्तस्य
गुरोर्वसुगुप्ताभिधानस्य०	स्पं. वि. पृ. १६५	रामकण्ठस्य
तत्रदिन्द्रिय मुखेन०	शि. स्तो. १३-८	उत्पलदेवस्य
जात देह प्रयय द्वीपभङ्गे	ई. प्र. वि. वि. खं- ३.पृ.३८८	अभिनवगुप्तस्य
तदुक्तमिति०	ई. प्र. वि. वि. खं. २. पृ. ३०	अभिनवगुप्तस्य
तेनैव दृष्टोऽसि०	शि. स्तो. १०-७	उत्पलदेवस्य
दृब्धं महादेवगिरौ०	स्पं. वृ. पृ. ४०	भट्टकल्लटस्य
न ध्यायतो न जपतः०	शि. स्तो. १-१	उत्पलदेवस्य
निजगुरु सरस्वतीस्तवनं०	स्पं. वि.	रामकण्ठस्य
भ्रमयत्येव तान् माया०	स्व. तं.	आगमः
मत्त एवोदितमिदम्०	तं. आ. ३-२८०	अभिनवगुप्तस्य
यत् किल शिवसूत्रम्०	ई. प्र. वि. वि. खं. २. पृ. ३०१	अभिनवगुप्तस्य
यदाह भट्टदिवाकरवत्यः०	ई. प्र. वि. १-१-१	अभिनवगुप्तस्य
योगमेकत्वमिच्छन्ति०	मा. वि. तं. ४-४	आगमः
योनित्वेन च सर्वस्य०	शि. सू. वा.	भट्टभास्करस्य
लब्ध्वाप्यलभ्यमेतद्०	स्पं नि. का. ५३	क्षेमराजस्य
वसुगुप्तादवाप्येदं०	स्पं. प्र. का. ५३	उत्पलवैष्णवस्य
विश्राम्याम्यहमीश्वरा०	ई. प्र. वि. वि.	अभिनवगुप्तस्य
श्रीमन्महादेवगिरौ०	स्पं. वृ.	भट्टकल्लटस्य
सर्वाः शक्तीश्चतेसा०	स्पं. नि. पृ. २५	क्षेमराजस्य
	तथा	
सर्वाः शक्तीश्चतेसा०	म. मं. प. पृ. ८०	महेश्वरानन्दस्य